भारत के महान साधक

पञ्चम् खण्ड

द्वितीय प्रकाशन, नवम्बर, १९८३ ई०

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन, दरभंगा

भारत के महान साधक

खण्ड—५

भारत के महान साधक

पंचम खंड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन

जिनकी महती कृपा से
'भारत के महान साधक'
का प्रकाशन
संभव हो
सका
उन्हीं महापुरुष
श्री कालीपद गुहाराय के कर-कमलों में
प्रकाशक द्वारा समर्पित

विषय-सूची

प्रकाशकीय

'भारत के महान साधक' के मूल लेखक स्व० प्रमथनाथ भट्टाचार्य लेखक, साधक तथा अन्वेषक, तीनों एक साथ थे। इन्होंने लगातार १५ वर्षों का बहुमूल्य समय महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगाया।

स्वर्गीय श्री नृपेन्द्र कृष्ण चट्टोपाध्याय ने बंगला-संस्करण की भूमिका में लिखा था—

"जिस समय धारावाहिक रूप में 'हिमाद्रि' में ये सब लेख प्रकाशित हो रहे थे उस समय जीवनी-लेखक के रूप में स्वभावतः उनकी ओर मेरी उत्कण्ठा जग उठी और यह उत्कण्ठा क्रमशः मुग्धता में परिणत हो गई। इस प्रकार की जीवनियाँ अतबक बंगला भाषा में मुझे पढ़ने को नहीं मिली थी।

"साधु-संत और महापुरुषों की जीवनी एवं साधना को लेकर बंगला भाषा में कुछ पुस्तकें अवश्य पायी जाती हैं, दो-एक जीवनी-संग्रह भी हैं, किन्तु वे बहुत मामूली ढंग के हैं। उनमें गाम्भीर्य का अभाव है और वे प्रामाणिक भी नहीं हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साधु-महापुषों की जीवनियाँ उनके विशेष भक्त-प्रेमियों की ही लिखी हुई होती हैं और इस प्रकार के जीवनी-ग्रन्थों में जीवन के उपकरणों की अपेक्षा भक्त-शिष्यों के भावोच्छ्वास ही प्रबल उठते हैं। यही कारण है कि धर्म-साधक और आध्यात्मिक महापुरुषों के जीवन एवं साधना को लेकर, सच्चे अर्थ में साहित्यिक लेखक द्वारा लिखे गये एक प्रामाणिक ग्रन्थ का अभाव बहुत खटकता था। 'भारतेर साधक' ने सार्थक रूप में उस अभाव की पूर्त्ति की है।

"भारतीय साधना का प्रधान वैशिष्ठय यह है कि प्रत्येक साधक ने अपने विशेष मार्ग से दिव्य सत्य का अनुसन्धान किया है। यही कारण है कि भारतीय साधना एवं भारतीय साधकों की साधना की धारायें बहुमुखी हैं। किसी ने शाक्त रूप में अपना परिचय दिया है, किसी ने वैष्णव-रूप में, किसी ने वेदान्ती-रूप में, किसी ने बाउल-रूप में और किसी ने सर्वत्यागी योगी के रूप में। प्रत्येक का लक्ष्य एक है, किन्तु साधना स्वतंत्र। 'भारतेर साधक' के लेखक ने इस ऐतिहासिक सत्य पर दृष्टि रखकर विभिन्न मार्गों के अनुयायी विशेष-विशेष साधकों की जीवनियाँ इस पुस्तक में अन्तर्भूत की हैं और गम्भीर एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि की सहायता से इन सब साधक महापुरुषों की विभिन्न साधनाओं के अन्तर्हित तत्व को अपूर्व सहृदयता के साथ प्रस्फुटित किया है। लेखक की इस रचना का प्रधान कृतित्व यह है कि तत्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने जीवन की उपेक्षा नहीं की है। प्रत्येक साधक की जीवन-कहानी को उन्होंने उपन्यासकार की तरह जीवंत कर दिया है और इन विस्मृतप्राय महापुरुषों के जीवन से संबंधित घटनाओं का पता लगाने और संग्रह करने में उन्होंने बहुत कुछ गवेपणाएँ की हैं, कितने जीवित पुरुषों से सहायता लेकर बहुत से आख्यानों का संग्रह किया है और इसके लिए सारे पुराने कागज-पत्रों की बड़ी निष्ठा के साथ छानबीन की है। इसके सिवा इस प्रकार की जीवनी लिखने के लिए सबसे वढ़ कर आवश्यक है लेखक की अपनी आत्मिक साधना। लोकदृष्टि के समक्ष 'भारतेर साधक' के लेखक ने अपने को जिस आन्तरिकता के साथ प्रस्तुत किया है, उसका चिह्न उनकी इस पुस्तक के प्रत्येक चरण में परिस्फुटित हो उठा है।"

बंगला भाषा में इस ग्रंथ का अपूर्व स्वागत हुआ है। यह पुस्तक इस काल की एक महान कृति मानी जाने लगी है। बंगला भाषा में इस ग्रन्थ के लेखक श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य अपने उपनाम 'शंकरनाथ राय' के नाम से विख्यात हैं।

हिन्दी के विज्ञ, सत्यान्वेषी एवं धर्मानुरागी पाठकों के समक्ष मूल बंगला पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर उपस्थित है। इसकी महत्ता और उपयोगिता का निर्णय उन्हें ही करना है।

सारे देश के सब क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी इस सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी संभव नहीं होता। उनका नाम गिनाकर दो-चार पंक्तियों में उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस अवसर पर इन महानुभावों के प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

निर्भय राघव मिश्र

प्रकाशक

नरसी मेहता

नरसी मेहता

आज भक्त नरसी का बहुत ही परिश्रम और व्यस्तता का दिन रहा है। सारे दिन स्नान तथा भोजन के लिए भी समय नहीं मिल सका है। लगभग दोपहर होने को आया है। अनायास दिखलाई पड़ा कि कई मूर्ति वैरागी साधु झोल-झोली लिए गांव के किनारे आकर उपस्थित हैं। जल्दी-जल्दी इनकी सेवा का बन्दोबस्त करना ही होगा। घर-घर से मांग कर आटा, घी, चीनी का जोगाड़ करना, भोग बनाने का व्यवस्था करना, सारी बातों का भार नरसी को लेना पड़ा। इष्टसेवा तथा प्रसाद-ग्रहण समाप्त करके संध्या के बाद साधुओं ने इष्टगोष्ठी आरंभ की। भगवत्-प्रसंग तथा भजन-कीर्तन के पश्चात् गंभीर रात्रि में उन्होंने विदा ली। नरसी भी जल्दी-जल्दी घर की ओर लपके।

साधु-संग के आनन्द में समय कैसे कट गया, इन्हें होश नहीं है। वे चौंक पड़े। आधी रात बीत चुकी है। इस समय घर में सब लोग खाना-पीना समाप्त करके सो चुके होंगे, केवल उनकी साध्वी स्त्री, मानिकबाई जाग रही होंगी। स्वामी का भोजन समाप्त हो जाने पर जो कुछ अवशिष्ट रहता है, उसे ही मुंह में डाल कर वे

विश्राम करने जाती हैं। स्त्री की तो कोई समस्या नहीं थी, परन्तु नरसी को असल भय अपनी भाभी से था। अवसर मिलते ही वे जब-तब नरसी को अपने शब्द-बाणों से बिद्ध करती रहतीं। इतनी रात तक घर के बाहर रुक जाने पर, यदि वे इस मुखर नारी के सम्मुख पड़ जायेंगे तो उनकी खैर नहीं।

निःशब्द, पैर दबा कर नरसी ने चौके में प्रवेश किया। पत्नी मानिक बाई एक कोने में बैठी तंद्रावस्था में थीं। परन्तु स्वामी की उपस्थिति का उन्हें क्षण भर में भान हो गया, और ढँके हुए भोजन की थाली उनके सामने बढ़ा दी।

बड़े भाई ही घर के कर्त्ता थे, और सारा व्यापार भी उन्हीं का था। इसीलिए उनके आहार के लिए नित्य घी डाला हुआ कढ़ी-भात मिलता तथा नरसी के लिए बची-खुची वस्तुएँ और थोड़ी सी सब्जी। ढँका हुआ भोजन सूख कर काँटा हो गया था। उसमें से एक टुकड़ा नरसी ने अभी मुँह में डाला ही था कि आंधी के वेग से भाभी ने अंदर प्रवेश किया।

उत्तेजित स्वर में उन्होंने कहा, "इतनी रात तक कहाँ नाच-कूद करते रहे, यह तो बताओ ? बड़ा भाई खटते-खटते इस गृहस्थी को चलाने के लिए तथा इतने लोगों के लिए अन्न जुटाने में सूख कर काँटा हो गया। कभी भी यह बात दिमाग में नहीं घुसती ? इस पर भी, मात्र अपने ही बैठ कर नहीं खा रहे हो, वरन् बाल-बच्चों के साथ यहाँ जम कर बैठे हुए हो। समर्थ होकर रोजगार करके परिवार को खिलाना तो दूर की बात, दिन-रात नाचते-कूदते कितने फालतू लोगों के साथ नाचने निकलोगे और यहाँ आकर भाई का अन्न ध्वस्त करोगे। तुम्हें ऐसा करने में लज्जा भी नहीं आती ?"

खाना रोक कर नरसी ने थाली खिसका दी। मानिक बाई सजल नेत्रों से उठ खड़ी हुई और जेठानी के हाथ-पैर पकड़ कर

अनुनय-विनय करने लगीं, "दीदी, सारे दिन के उपवास के बाद उन्हें भोजन तो समाप्त कर लेने दो।"

"तुम चुप रहो। रोजगार न करके जो पुरुष खाता है, उसका मान-अपमान कैसा? मैं इसका कुछ फैसला आज यहीं कर के रहूँगी।"

नरसी अबतक भोजन के आसन को त्याग करके भाभी के सम्मुख आकर खड़े हो चुके हैं। उन्होंने शांत स्वर में कहा, "तुम्हें उत्तेजित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी क्षण मैं इस घर का त्याग करके जा रहा हूँ। जल्दी ही वापस आऊँगा और तब मानिक बाई तथा शिशु पुत्र-कन्या दोनों को ले जाऊँगा।"

"अभी जाना कहाँ हो रहा है, यह भी तो मैं सुनूँ? व्यंग्य वाण छोड़ती हुई नरसी के भाभी ने प्रश्न किया।

"अपने कृष्ण के पास, रणछोड़ जी के पास, द्वारका जाऊँगा। जैसे भी हो, उनका दर्शन मेरे लिए आवश्यक है। तुमने अपने आश्रय से निष्कासित कर मुझे मेरे कृष्ण के परमाश्रय में भेज दिया, भाभी जी। इसके लिए मेरी कृतज्ञता की कोई सीमा नहीं है तुम्हारे प्रति।

पत्नी मानिकबाई स्वामी के पैरों में लोट गयीं और जोर-जोर से रोने लगीं।

नरसी ने आश्वासन देते हुए कहा: "रोओ नहीं, मानिकबाई, तुम्हारे दुःख अब शीघ्र ही समाप्त होंगे। अबतक मुझसे ही बहुत बड़ी भूल होती रही थी। इतने दिनों कृष्ण-कृष्ण पुकार कर रोता तो रहा, परन्तु दोनों हाथ बढ़ा कर कभी उन्हें पकड़ने की चेष्टा अभी तक नहीं की। अबतक एक हाथ से मैंने भाई का आश्रय पकड़ रखा था और दूसरा हाथ अपने कृष्ण की ओर बढ़ाता रहा। इसी के फलस्वरूप तो इतना दुःख और इतनी लांछना पाता रहा। अब अपनी भूल का मार्जन करूँगा, और दोनों हाथ बढ़ाकर अपने प्राण-

प्रिय ठाकुर को पकड़ूँगा, और अंततः उनके चरणों में आत्मसमर्पण करूँगा। हम सभी का भार वे आनन्दपूर्वक वहन करेंगे। मुझे बहुत विलम्ब हो चुका है, अबकी मैं जाऊँगा ही।

वर्षा काल के मेघों का जमघट आकाश में लगा हुआ है। वर्षा का ताण्डव आरंभ होने में भी अधिक विलम्ब नहीं है। तीव्र वेग से नरसी घर से बाहर निकले और वन-संकुल मार्ग से आग वढ़े। दूर से आता पत्नी मानिकबाई का विलाप तथा क्रन्दन धीरे-धीरे क्षीण होता गया।

घोर अंधकार रात्रि में अनिर्दिष्ट मार्ग पर नरसी की उस दिन की यह पदयात्रा सफल अभियात्रा में परिणित हो गयी। सिद्धि के आलोक से उनका साधन-जीवन उद्भासित हो उठा और इष्टदेव रणछोड़ जी के दर्शन से वे कृतार्थ हुए।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग में भक्ति-सिद्ध महापुरुष नरसी मेहता का आविर्भाव हुआ था। इस आविर्भाव ने गुजरात के जन-जीवन पर एक अमिट छाप छोड़ दी। गुजरात की धर्म-संस्कृति एवं-साहित्य उनके अवदान से समृद्ध ही हुए। उस क्षेत्र में कृष्ण-नाम तथा कृष्ण-उपासना का प्रचार अवाध गति से आरंभ हुआ।

जूनागढ़ के सन्निकट तलाजा नामक एक छोटे से गाँव में नरसी मेहता ने जन्म ग्रहण किया। पिता कृष्णदास बड़-नगरिया नागर ब्राह्मण थे। यह ब्राह्मण समुदाय गुजरात राज्य में सुपरिचित था।

नरसी अभी बालक ही थे कि पिता कृष्णदास की छत्र-छाया उनके ऊपर से उठ गयी। ज्येष्ठ भ्राता नरसी से बहुत प्रेम करते थे। उन्हीं की गोद में नरसी ने यौवन में पदार्पण किया, तथा पितृहीन बालक के जीवन में उन्होंने स्नेह और ममता की रसधारा उड़ेल दी।

कैशोर्य में पदार्पण करते ही नरसी के जीवन में अपूर्व अध्यात्म संस्कार का स्फुरण दृष्टिगोचर हुआ। उन दिनों गाँव में परिव्राजक साधुओं के आते ही भक्त गृहस्थगण, उनकी सेवा के लिए तत्पर हो जाते। इस कार्य में कृष्णदास के पुत्र, नरसी, सबसे अधिक उत्साहित थे। साधुओं के आस-पास सदा आते-जाते रहते और सेवा-पूजा की व्यवस्था करते। और अवकाश मिलने पर एकाग्र चित्त से उनके परिव्राजन तथा साधन जीवन के नाना अलौकिक रहस्यों की बातें सुनते।

नरसी के जीवन में सबसे बड़ा आकर्षण कीर्तन गान था। जहाँ भी कीर्तन का आयोजन होता, वे वहाँ उत्साहपूर्वक पहुँच जाते, तथा भजन एवं कीर्तन से मत्त हो उठते। ग्राम में वैरागी साधुओं के आगमन पर जैसे संसार ही उन्हें भूल जाता, और वे उन्हीं के पीछे लग जाते।

ज्येष्ठ भ्राता उनकी ऐसी चाल-ढाल को देख कर विचलित हो उठे। यह यौवन में पदार्पण कर चुका है, तथा अगर इस अवस्था में ऐसे उदासीन हो साधु-संतों के पीछे इस तरह भाग-दौड़ शुरु कर देगा, तब तो परिवार के किसी कार्य में उसे लगाना संभव नहीं हो सकेगा। इसके अलवा, पिता की मृत्यु के पश्चात उन्हीं के ऊपर नरसी को मनुष्य बनाने का भार आ पड़ा था। गृहस्थी में उसे न उलझाने से तथा व्यवसाय-कार्य में नहीं लगाने से लोग क्या कहेंगे ?

उन्होंने स्थिर किया कि अविलम्ब नरसी को प्रणय-सूत्र में बाँध दिया जाय। मनोनुकूल पात्री के लिए छान-बीन भी शुरु हो गयी, परन्तु ऐसे पागल लड़के कौन कन्या-पक्ष वाले पसन्द करेंगे ? कार्यदक्षता के हिसाब से नरसी के पास कुछ भी नहीं था। ज्येष्ठ भ्राता के रोजगार से ही उनका भोजन चलता है, तथा उनका समय

व्यतीत होता है साधु, वैरागियों के साथ नाच-कूद कर और राधा-कृष्ण का अभिनय करके। इसी कारण बात पक्की होजाने पर भी एक दिन एक संबन्ध टूट गया। नरसी के भावोन्मत्त जीवन की कहानी सुनकर कोई आगे बढ़ने को तैयार ही नहीं था। अंततः एक शुभ लग्न में सुलक्षणा पात्री, मानिकबाई के साथ नरसी प्रणय-सूत्र में बँध गये।

नवपरिणीता वधू बड़ी भक्तिमती थी। आंतरिक सेवा वृत्ति एवं प्रेम से उसने स्वामी को शीघ्र ही वश में कर लिया। नरसी का दांपत्य जीवन स्वाभाविक आनन्द एवं प्रीति के रसस्रोत में बहने लगा। परन्तु पत्नी का आकर्षण कभी भी उनके लिए इष्ट के आकर्षण से अधिक नहीं हो सका। कन्या, कुँवरबाई तथा पुत्र श्यामल के बाद भी नरसी के जीवन में कृष्ण प्रीति और भी गंभीर तथा व्यापक होती चली गयी। मात्र नर्तन-कीर्तन तक ही उनका साधन-जीवन सीमाबद्ध नहीं रहता। वरन् कृष्ण-रस का एक अनुपम स्रोत उनकी जीवन धारा में प्रस्फुटित हो गया। मधुर रस की अनुपम पदावलियाँ उनके प्रेमसिक्त कंठ से निरंतर गीतों का रूप लेने लगी।

संसार के आवर्त में विद्यमान रहने पर भी अपने सारस्वत इष्ट-देव कृष्ण को नरसी एक क्षण के लिए भी विस्मृत नहीं कर सके। कृष्ण-रस में रससिक्त होकर ही उनका समय परमानन्द पूर्वक व्यतीत होता रहा। इन्हीं दिनों अकस्मात्, उस दिन रात्रि में उन्हें भाभी के कोप का भाजन होना पड़ा। लांछना तथा अपमान का वह क्रूर आघात उन्हें इष्ट प्राप्ति के यात्रा-पथ पर बाहर निकालने में सफल हो गया।

आकाश में घोर घटाएँ लगी थीं। उसी के साथ-साथ वृष्टि और तीखी आंधी जैसी हवा का जोर था। इसी कुसमय में नरसी अन्धकारपूर्ण वन-पथ से अग्रसर होते जा रहे हैं। सारा शरीर काँटों से विंध चुका है जिससे रक्त निकल रहा है। परन्तु उसकी ओर उनका

ध्यान ही नहीं है। मुमुक्षु साधक के मुख से सविरत कृष्ण नाम निकल रहा है तथा अन्तर में कृष्ण दर्शन का अजेय संकल्प है। ऐसा लगता है कि पार्थिव जगत् की कोई बाधा आज उनके इस पुण्यमय अभियान में अवरोध उत्पन्न करने में सक्षम नहीं है।

क्रमशः रात्रि प्रभात में बदल गयी। प्रकृति का ताण्डव भी क्रमशः समाप्त हो गया। वनांचल में उषा की मृदु-मधुर आलोक-छटा झलकने लगी। वर्षण-स्नात देह एवं क्लांत पद से नरसी चलते ही जा रहे हैं। अकस्मात् निकट ही एक प्राचीन भग्नप्राय देवमंदिर पर उनकी दृष्टि पड़ी।

निकट जाते ही उन्हें ऐसा लगा कि यह मंदिर तथा इस क्षेत्र से उनका पूर्व-परिचय है। किसी सिद्ध योगी द्वारा प्रतिष्ठित एक जाग्रत शिवविग्रह इस प्राचीन मंदिर में विराजमान था। क्षेत्र जूनागढ़ के सन्निकट था। बाल्यकाल में घर के लोगों के साथ नरसी पूजा के हेतु इस मन्दिर में कई बार आ चुके हैं। इस स्थान के साथ उनके पुराने दिनों की कई सुखद स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

नरसी की पदयात्रा का लक्ष्य द्वारका था, जहाँ उनके इष्टविग्रह रणछोड़ जी, अपरूप माधुर्य एवं महिमा के साथ विराजित थे तथा अपने अमोघ प्रेम के बल से हजारों भक्तों को प्रतिदिन आकर्षित करते थ। उनकी एकमात्र आकांक्षा थी, द्वारका जाकर यथाशीघ्र अपने प्राणप्रिय ठाकुर के साथ मिलन की। किन्तु, नियति रात्रि के आंधी-तूफान के माध्यम से इस भग्न शिवमंदिर की सीढ़ियों पर क्यों खींच लायी ? इसका आंतरिक तात्पर्य क्या है ?

इनके अन्तर में एक विचार अनायास कौंध गया। शिव तो आशुतोष हैं, भक्त के हृदय की पुकार और मात्र एक बिल्वपत्र उन्हें परम संतोष प्रदान कर देता है। इन्हीं आशुतोष को प्रसन्न करके तथा उन्हीं से वर माँग कर नरसी कृष्ण-प्राप्ति की लालसा को पूर्ण करेंगे।

नरसी ने और भी सोचा, पुराणों में लिखा है—गुप्त रूप से गोपबाला का रूप धारण करके कृष्ण की रासलीला का वे दर्शन कर सके थे। इसी अपरूप लीला के दर्शन के अधिकार की इन जाग्रत शिव-विग्रह से भिक्षा मांगेंगे।

संकल्प स्थिर हो गया। साथ ही साथ जंगल से फूल तथा बेलपत्रों के ढेर का संग्रह करके नरसी ने मंदिर में प्रवेश किया। भक्तिपूर्वक विग्रह की अर्चना तथा जप समाप्त करने के उपरान्त वे गंभीर ध्यान में लीन हो गये।

सारे दिन उन्हें बाह्यज्ञान का बोध नहीं रहा। क्रमशः रात्रि भी शेष होने को आयी। अब भक्त की आकांक्षा पूर्ण करने हेतु आशुतोष आविर्भूत हुए। सारा मंदिर स्वर्गिक ज्योति की छटा से भर उठा, और उसी ज्योति के मध्य देवाधिदेव की दिव्य मूर्ति आकारित हो उठी।

प्रसन्न स्वर में भगवान ने कहा, "वत्स, तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होने में अब विलम्ब नहीं है। आज नियति का तुम पर वरदहस्त है। मैं वर देता हूँ कि द्वारकाधीश की कृपा का तुम्हारे ऊपर वर्षण होगा। तुम्हारी इष्टदर्शन की आकांक्षा शीघ्र ही पूर्ण होगी, तथा उसके साथ ही और कई मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी—रासलीला का परम मधुर दिव्य दृश्य भी तुम्हारी आँखों के सामने उद्‌घाटित होगा। वत्स नरसी, अब तुम कुछ आहार लो। दो दिनों से तुम उपवास कर रहे हो, अब वन से कुछ फल-मूल जुटा कर अपनी क्षुधा निवृत्ति करके रणछोड़जी के पुण्यस्थान द्वारका की ओर अग्रसर हो जाओ।

ज्योतिर्मय मूर्ति क्षण भर में अंतर्ध्यान हो गई। नरसी के कपोल आनन्दाश्रुओं से सिक्त हो गये। भूमि पर लोट-लोट कर वे बार-बार देवाधिदेव को प्रणाम निवेदित करने लगे।

पदयात्रा करते-करते कई दिन बाद नरसी मेहता द्वारका पहुँचे। धूल-सने पैरों से वे व्याकुल हृदय, उसी समय प्रभु रणछोड़ जी के श्रीमंदिर की ओर दौड़ पड़े। भक्तप्रवर उस समय प्रेम-भक्ति के आवेश से उन्मत्त हो रहे थे। कभी सारे आँगन में लोटते जा रहे हैं, गान कर रहे हैं। कभी स्थिर निर्निमेष दृष्टि से श्री विग्रह की ओर देख रहे हैं और दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह रही है।

प्रभु जी की दिन तथा रात्रि की सेवा-पूजा समाप्त हो गयी। शयन-आरती के दर्शन के बाद थोड़ा प्रसादान्न ग्रहण कर नरसी मंदिर-प्रांगण के एक कोने में विश्राम करने के लिए बैठे। अंतर में नाना चिंताएँ व्याप्त हो उठीं। प्राणप्रिय ठाकुर के दर्शनों की उन्हें अदम्य लालसा है। मन में कितने ही सुप्त विचार जाग्रत हो रहे हैं। उन्हें एकांत में ठाकुर के समक्ष, हृदय के सुप्त विचार निवेदित न कर सकने पर शांति कहाँ से मिलेगी ?

हृदय में एक और संकल्प है—ठाकुर की श्रेष्ठ प्रेम-माधुर्य-मय लीला, रासलीला के दर्शन करने का। परन्तु इस जन-कोलाहल में उसके घटित होने की संभावना कम ही है।

उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम सभी कोनों से तथा भारत के सभी क्षेत्रों से जन-समूह इस द्वारकाधीश के मंदिर में उमड़ पड़ता है। कांसर-घंटा और झांझ के उच्चरव तथा हँसी, आनंद एवं नृत्य-गीत से मंदिर के चारों कोने मुखर हो उठते। झाड़-लालटेन और मशालों के प्रकाश में सारा मंदिर जगमगा उठता है। इस जन-कोलाहल में, इस नयनाभिराम आलोक छटा में, निभृति-प्रयासी, निरीह, क्या ग्रामीण भक्त नरसी मेहता चैन की साँस ले पा रहे ? इस वातावरण में प्रायः अपने को ही खो बैठे हैं, तथा अपने प्रेमिक ठाकुर को वे अपना नहीं पा रहे हैं। यह कैसी विपत्ति में वे पड़ गये हैं।

एक ही भरोसा है—कृपालु आशुतोष का वह वरदान। परन्तु इस हल्ले-गुल्ले में वह किस तरह फलित होगा, यह समझना उनके लिए दुष्कर है।

विगत कई दिनों की रास्ते की थकावट से शरीर क्लान्त हो चुका है। बहुत-सी बातें सोचते-सोचते नरसी अकस्मात् निद्रा की गोद में चले गये।

गंभीर रात्रि की वेला। श्रीमंदिर तथा उसके आसपास के दीपों की श्रृंखला बुझ चुकी है। चारों ओर गहरा अंधकार व्याप्त है। उन्मुक्त आकाश तले नरसी निद्रालीन हैं। साहसा किसी की पुकार पर उनकी निद्रा भंग हो गयी। यह क्या ! यह किसका कण्ठस्वर ? लगता है, स्वर पूर्व-परिचित है। परन्तु सूदूर द्वारका में उन्हें कौन इस तरह पुकारेगा ?

फिर इस दैवी कण्ठ की मृदु गंभीर आवाज सुनायी पड़ी। "नरसी, तामस निद्रा में समय व्यतीत करने के लिए ही यहाँ आये हो ? जल्दी से मंदिर के बाहरी चबूतरे पर चढ़ जाओ, और उसके बाद पीछेवाली फुलवाड़ी में प्रवेश करो। तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा।"

विस्मय तथा आनंद की सिहरन नरसी मेहता के सारे शरीर पर, उनकी सारी सत्ता पर फैल गयी। वे समझ गये कि यह दैवी कण्ठस्वर स्वयं देवाधिदेव शिवजी का ही है जिनका आविर्भाव जूना-गढ़ के उस जीर्ण देवमंदिर में हुआ था।

अधीर नरसी मेहता, द्रुत-पद से उस ओर अग्रसर हुए। बगीचे में प्रवेश करने के साथ उनके कानों में पड़ा अमृतमय वंशी-स्वर। स्वर लहरी धीरे धीरे ऊँची होती चली गयी, और भक्त नरसी मोहग्रस्त जैसे जंगल में आगे बढ़ते चले गये। दिव्य आनन्द के आवेश से वे उन्मत्त प्राय हो चुके हैं। सारे अंगों में

सात्विक विकार का उदय हो चुका है। क्रमशः वे अर्धचेतनावस्था में धरती पर गिर पड़े।

प्रेमाविष्ट नरसी के नयनों के समक्ष अब दिव्यलोक का अपरूप दृश्य-पट उन्मोचित हुआ। उन्होंने देखा, नवजलधरकांति, शिखिपुच्छधारी, मुरलीधर श्री कृष्ण साक्षात् उनके सामने खड़े हैं। प्रभु के होठों पर भुवनमुग्धकर हँसी है तथा नेत्रों में लीला-चंचल प्रेम-दृष्टि।

वंशी ध्वनि को रोककर प्रभु ने प्रसन्न-मधुर स्वर में कहा: "नरसी, तुमने जीवन में दुःख तथा दहन की अनेक ज्वालाएँ सही हैं। अब आओ और मेरे आनंद-लोक में प्रवेश करो। मेरी लीला के माधूर्य से अपना जीवन-पात्र भर डालो, और उसे प्रत्येक भक्त मानव के हृदय में उड़ेल दो।"

उसके बाद दृश्यपट में अनायास परिवर्तन हुआ। प्राणप्रभु, कृष्ण की सर्वोत्तम प्रेम-लीला—महारास—उन्हें दृष्टिगोचर होने लगी।

नटवर कृष्ण की पागल बना देने वाली, मोहन वेणु बज रही है, और छः रंध्रों की सुरलहरी, मानव शरीर के षट्चक्रों को दिव्य चेतना से उद्‌बुद्ध करती जा रही है। पक्षियों की मधुर कूक बनानी में दिव्य आनंद के हिल्लोल का जागरण कर रही है, तथा पुष्पों की सुगन्धि से दसों दिशाएँ आकुल तथा आमोदित है। कुंज-कुंज में कृष्ण तथा कृष्णप्रिया गोपियों का आनन्दमय रस-विहार चल रहा है। मात्र एक ही रासविहारी कृष्ण नहीं हैं—जितनी गोपियां, उतने ही कृष्ण—रासलीला का यह एक अपरूप तथा महान दृश्य है। मानव-शरीर धारी, गोलोकपति, मुरलीधर कृष्ण द्वारा रचित मानों यह एक अद्‌भुत स्वर्गीय इन्द्रजाल है।

इसके बाद लीला दृश्य समाप्त हो गया। उन्माद की अवस्था

में नरसी दौड़ कर श्रीविग्रह रणछोड़ जी की वेदी के नीचे गिर पड़े। मावावेग से भक्तप्रवर तुरत मूर्छित हो गये।

वाह्य ज्ञान वापस आने पर नरसी ने देखा, सूर्य का स्निग्ध मधुर प्रकाश चारों ओर फैल गया है। पण्डे तथा पुरोहितगण मंगल वाद्यों से प्रभु जी की आरती प्रारंभ कर चूके हैं।

मंदिर के एकांत कोने से नरसी ने साष्टांग प्रणाम निवेदित किया। हाथ जोड़ जर उन्होंने कहा, "प्रभु, तुम्हारा दीनदयाल नाम सार्थक है। इस अक्षम, दीन भक्त के ऊपर जिस कृपा की तुमने वर्षा की है वह अतुलनीय है। तुम्हारी लीला के दर्शन करके आज जीवन धन्य हो गया है। अब कृपया यह बताओ कि मेरे लिए क्या आदेश है।"

कानों में दैवी कण्ठस्वर सुनायी पड़ा, "नरसी, तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो चुका हैं। अब घर वापस लौट जाओ। जिस आनन्द घन का तुम्हें लाभ हुआ है, उसे घर-घर में पहुँचा दो। ब्राह्मण-अन्त्यज, धनी-दरिद्र सभी को यह धन लुटा डालो। मानव मात्र, पूर्णतया हरि के अपने हैं, यही उनका एक मात्र परिचय है। इसा सत्य का तुम प्रचार करो। नाम-कीर्तन रूपी अमृत का देश के जन साधारण में वितरण कप डालो।"

"परन्तु प्रभू, मेरी एक प्रार्थना तुम्हें पूर्ण करनी ही होगी। तुमने इस अलौकिक लीला का दर्शन करा के मन-देह-प्राण को, मेरा सारी सत्ता को दिव्य प्रेम और परम मधुर भावमयता से उज्जीवित कर दिया हैं। यह प्रेम और भावैश्वर्य मेरें जीवन में सदा वर्त्तमान रहे।"

रणछोड़ जा ने उत्तर दिया, "तथास्तु।"

पुलकित गात, प्रभु का मधुर नाम कीर्तन करते-करते नरसी मेहता, मंदिर से बाहर निकले। अब वे आप्तकाम, प्राणप्रभु कृष्ण के अंगीकृत सेवक एवं दास हो चुके हैं। अब उनके जावन में भक्त

जनों के बहुआकांक्षित प्रेमोन्माद तथा प्रभुजी द्वारा प्रदत्त अभय मंत्र का स्फुरण हो चुका।

कई दिनों की पदयात्रा के बाद नरसी मेहता अपने ग्राम तलाजा में उपस्थित हुए। घर पहुँचते ही उन्होंने उत्साहपूर्वक भाभी को प्रणाम निवेदित किया। कहा, "भाभी जी, तुम्हारे ऋण से मैं किसी दिन उद्धार नहीं पा सकूँगा। मेरे कृष्ण-दर्शन में तुमने ही सबसे अधिक सहायता की है। तुम्हारा तिरस्कार न पाने पर इस अभागे के जीवन में यह परम पुरस्कार मिलने की संभावना नहीं थी।"

इसके बाद ज्येष्ठ भ्राता से उन्होंने सविनय कहा, "भैया, इतने दिनों तक स्त्री, पुत्र, तथा कन्या के साथ तुम्हारी गृहस्थी में रहा हूँ। अब मैं पूर्णतया अपने परमप्रभु कृष्ण के ऊपर ही निर्भर करूँगा। तुम मुझे दोष न देना। आज ही मैं सभी को लेकर चला जाऊँगा। सोच रहा हूँ कि जूनागढ़ जाकर वहीं अपनी नई गृहस्थी बसाऊँगा।"

"परन्तु, इतने लोगों के भोजन की व्यवस्था कैसे चलेगी ? पागल की तरह तू यह सब क्या कह रहा है ?"—ज्येष्ठ भ्राता ने चिंतित स्वर में पूछा।

"तुम भूल रहे हो। तुम या मैं, कुछ भी नहीं कर रहे हैं। सारा-कुछ सबके स्वामी रणछोड़ जी ही कर रहे हैं। वे ही तुम्हारी भी गृहस्थी चला रहे हैं, तथा सारी आवश्यकताएँ पूरी कर रहे हैं। क्या वे मेरा भार नहीं लेंगे ? विशेषकर जब वे मेरे सखा हैं—प्राण-प्रिय सखा।"

जूनागढ़ शहर के एक कोने में एक क्षुद्र कुटीर को नरसी मेंहता ने अपना वासस्थान बनाया। पत्नी माणिक बाई और पुत्र-कन्या के भोजन का भार उन्होंने इष्टदेव श्रीकृष्ण के ऊपर छोड़ दिया, तथा स्वयं सर्वदा कृष्ण-रस में उन्मत्त तथा विभोर रहने लगे।

नरसी मेहता के आध्यात्मिक रूपान्तर की बात चारों ओर फैल गयी, द्वारका जाकर, द्वारकाधीश की कृपा वे प्राप्त कर आये हैं तथा श्रेष्ठ, भक्तिसिद्ध महात्मा में परिणत हो गये हैं, यह बात प्रचारित हो गयी। नरसी के दर्शन तथा उनके उपदेश एवं नाम-कीर्तन के श्रवण के लिए आंगन में भारी भीड़ जमनी शुरु हो गयी।

कृपाप्राप्त नरसी के जीवन में एक नवीन आध्यात्मिक ऐश्वर्य समागत हुआ। रातों-रात वे उच्चस्तरीय साधक-कवि के रूप में परिणत हो गये। कृष्ण की स्तुति, कृष्ण-कथा तथा कृष्ण-नाम-गान में समान रूप से पारंगत थे। परन्तु अब वे प्रभुजी की कृपा के फलस्वरुप विशेष शक्ति के अधिकारी हो चुके हैं, तथा उन्होंने प्रभु के चारण-कवि एवं चारण-गायक की पवित्र भूमिका निभानी प्रारंभ कर दी है।

इस समय से नरसी मेहता अनेक भक्तिरसात्मक पद, काव्य एवं नाटकों की रचना करने लगे। प्रेमभक्ति, रस-माधुर्य एवं संवेदनशीलता तथा प्रसाद गुण से ओतप्रोत उनकी रचनाएँ गुजराती साहित्य की विशिष्ट संपदा के रूप में आज भी गिनी जाती हैं।

महात्मा नरसी मेहता की आध्यात्मिक सिद्धि की ख्याति मात्र जूनागढ़ शहर में ही सीमित नहीं थी। यह ख्याति शीघ्र ही समग्र गुजरात तथा उत्तर-पश्चिम भारत में फैल गयी।

दर्शनार्थियों के दल के दल आकर नरसी के श्रीमुख से कृष्ण कथा, राधा-कृष्ण लीलाओं की कथा सुनकर मुग्ध एवं मत्त हो उठते। उनके कुटीर का आंगन कीर्तनानन्दियों के लिए एक तीर्थ ही बन गया था। स्वयं नरसी जब मृदंग एवं करताल के साथ प्रभु के नाम गान में मत्त हो उठते, तो दर्शनार्थियों के हृदय में दिव्य भावों के आवेश का स्फुरण हो उठता। जाति तथा वर्ण की बाधाएँ तोड़ कर सारा जन-समूह भाव-विभोर हो उठता।

नरसी की जीवन-साधना की मूल बात थी—स्वयं-भगवान कृष्ण मानव देह धारण करके गोप-गोपियों के साथ अपार माधुर्य लीला प्रकटित कर गये हैं, यही माधुर्य तथा प्रम के अवतार, कृष्ण, मानव-मात्र के उपास्य हैं, तथा इस युग में कृष्ण-भक्ति, तथा कृष्ण प्रेम के अलावा मनुष्य-मात्र की और कोई गति नहीं है।

वैष्णवीय साधना तथा दिनचर्या के विषय में नरसी का कथन है, इष्टदेव कृष्ण के प्रति एकनिष्ठता अव्याहत रखो । अहर्निशि उनके स्मरण, भजन एवं नाम-कीर्तन में समय व्यतीत करो। कृष्ण के प्रति आत्म समर्पण करो। एकमात्र कृष्ण हो तुम्हारे व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन के सारे दायित्यों का भार स्वयं अग्रसर होकर ग्रहण करेंगे ।

भक्तिसिद्ध महापुरुष नरसी जिस तरह श्रीहरि को अपना सर्वस्व देकर प्रेम करते थे, उसी तरह वे श्रीहरि के जनों पर भी प्रेम की वर्षा करते थे। नीच वर्ण एवं अछूतों एवं आचारभ्रष्ट मनुष्यों के प्रति भी जाति-भेद एवं वर्ण-वैषम्य न मान कर उन्होंने सबको बिना किसी द्विधा के प्रेमपूर्ण हृदय से आलिंगन बद्ध किया है। हरिजन, उनके लिए मात्र हरि की करुणा के पात्र ही नहीं हैं, वरन् वे उनके अपने होकर ही रहे है। [1]

नरसी मेहता के आविर्भाव की पृष्ठभूमि जानने के लिए समकालीन गुजरात की राजनैतिक एवं सामाजिक अवस्था का ज्ञान होना आवश्यक है। १४११ ई० से १७०७ ई० तक गुजरात राज्य अहमदाबाद के सुलतानों के अधीन था, तया इन सुलतानों की युद्धलिप्सा तथा राज्य-विस्तार की कामना अत्यन्त प्रबल थी।

---

१ नरसी मेहता की ही हरिजन वाली बात ने उत्तर कालमें गांधी जी के जीवन-दर्शन को काफी हद तक प्रभावित किया था। गांधी जीवन के विशिष्ट अन्वेषक तथा भाष्यकारों का मत है कि गाधी जी ने 'हरिजन' नाम को भक्त नरसी के जीवन से ही ग्रहण किया है।

सुलतान बहादुर शाह के हमले से क्रुद्ध होकर मुगल-सम्राट हुमायूँ १५७३ ई० में गुजरात पर आक्रमण करने को विवश हो गये थे। उत्तर काल में १५७३ ई० में अकबर ने इस राज्य को मुगल साम्राज्य के अधीन कर लिया।

अहमदाबाद के सुलतानों के राज्य काल में गुजरात एक सुसं-बद्ध शासनतन्त्र के अधीन अवश्य था, परन्तु सुलतानों के युद्धों के व्यय को पूरा करने में प्रदेश के साधारण मनुष्य को कंगाल हो जाना पड़ता था। खान, अमीन एवं सुलतान के अधीनस्थ हिन्दू राजाओं का अत्याचार क्रमशः भीषण होता गया। हिन्दू समाज को इन दिनों बाध्य होकर अपनी आत्म-रक्षा का उपाथ ढूँढ़ना पड़ा ! समाज ने जाति-वर्ण के प्राचीर के अभ्यन्तर में आश्रय ग्रहण किया। प्राचीन परम्पराओं का स्मरण-मनन, पुराण-शास्त्रों के आख्यानों की चर्चा एवं भक्ति मार्ग का अनुसरण, यही साधारण मनुष्यों की जीवन चर्या हो गयी। साहित्य में भी जनमानस का यह वैशिष्ट्य स्फुति हो उठा। चौदहवीं सदी के गुजराती साहित्य तथा लोकगा-थाओं में हम पौराणिक धर्म की स्पष्ट छाप देख पाते हैं। राधा-कृष्ण की लीला कथाओं का प्रभाव जनसमाज पर विस्तारित हो उठा, और इस प्रभाव की पृष्ठभूमि में थे भागवत्, पुराण, जयदेव का गीत गोविन्द तथा वोपदेव का हरिलीलामृत। नृसिंह नारायण मुनि ने १४१६ ई० में विष्णु भक्ति चन्द्रोदय नामक एक भक्ति ग्रन्थ की रचना की जो कि गुजरातियों में जनप्रिय हो उठा। गिर्नार पर्वत के १४१७ ई० में उत्कीर्ण एक शिलालेख में एक रस-माधुर्यपूर्ण दामोदर स्तुति दृष्टिगोचर होती है। इस स्तुति में गोपियों के प्रिय 'माखन चोर' कृष्ण मा उल्लेख मिलता है। इसके द्वारा प्रमाणित होता है कि जनसाधारण में राधा-कृष्ण के लीला प्रसंग का इससे पूर्व प्रचार हो चुका था।[२]

२. मुंशी : गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर—पृ० : १६४

इस प्रसंग में गुजरात के पुराण कथक गागरिया भाटों की बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नरसी के पहले की यह भाटों की परंपरा अभिनन्दन योग्य है। ये ग्राम-ग्राम में भ्रमण करते तथा संगीत आख्यान एवं अभिनय के माध्यम से जनसाधारण के समक्ष पुराणों की ललित कथाओं का प्रस्तुतीकरण करते। इनमें उल्लेखनीय हैं यात्नण, प्रेमानन्द, मंत्री कर्मण भीम, केशव हृदयराम इत्यादि। गुजरात की धर्म-संस्कृति में इन गागरिया भाटों के अवदान के संदर्भ में श्री कन्हैयालाल मुंशी ने लिखा है, "ये कथक भाट अपनी गणना प्राचीन आर्य संस्कृति के उत्तराधिकारी के रूप में करते थे। उसी संस्कृति एवं सभ्यता की शुभ्र एवं पौरुषपूर्ण दीप्ति तथा उसी अपरूप एवं शुचिशुभ्र साहित्य आदर्श को वे गर्वपूर्वक प्रचारित करते। विदेशी म्लेच्छ संस्कृति का गतिरोध करने में वे कृतसंकल्प थे। प्राचीन युग के उज्जीवनकारी संगीत को वे ध्यानपूर्वक सुनते तथा उनकी दृष्टि निबद्ध रहती आसन्न जयगौरव की ही ओर। उनके हृदय के द्वार को उन्मुक्त करने के हेतु उनके पूर्वजों के धर्म तथा संस्कृति की गौरवगाथा का गायन करते। ग्रामीण संस्कृतिक केन्द्र उनके आगमन से उल्लसित हो उठते। गाँव-गाँव में घूम-घूम कर वे अपने हृदय से निकली स्तुतियों का गायन करते तथा पूरे क्षेत्र को रसमाधुर्य से पूर्ण कर देते। प्रत्येक गृह उनके संगीत की झंकार से झंकृत हो उठता। उनके प्रयास के फलस्वरुप धर्म की परंपराएँ जाग्रत रहतीं तथा उसके फलस्वरुप देश की भाषा, साहित्य प्रेरणाशक्ति एवं आदर्शवाद की रक्षा होती। इन कथक भाटों के प्रयास के फलस्वरुप गुजरात राजनैतिक दासता के होते हुए भी, इस देश की महान धर्म-संस्कृति के आदर्श को गौरवपूर्वक जीवित रख सका था।"

भक्त नरसी मेहता की भावमय जीवन-साधना की पृष्ठभूमि क्या थी, इसका आभास उपर्युक्त तथ्यों से मिल जाता है।

नरसी से पूर्व के युग में गुजरात के भक्तिधर्म आन्दोलन के प्रेरणा-स्रोत थे गोस्वामी वल्लभाचार्य।[1] तेलंगाना के वे आचार्य पहले विष्णु स्वामी के अनुयायी थे। बाद में मीरा के आदर्शों की भित्ति पर उन्होंने एक नये भक्ति संप्रदाय का गठन किया, जिसका नाम हुआ पुष्टि मार्ग। भक्ति साहित्य के वे प्रकाण्ड विद्वान थे। उनके साधन उपदेश की प्रधान बातें थीं—श्रीकृष्ण शरणागति, सर्वस्व समर्पण तथा रासलीला का अनुध्यान। भक्त इष्टदेव कृष्ण को देह-मन-प्राण, विषय एवं परिवार सारा कुछ समर्पित कर देगा। उसका अपना कहने को उसके पास कुछ भी शेष नहीं रह जायगा। इसी के साथ साथ, राधाकृष्ण की मिलन-विरह लीला एवं विशेष रूप से रासलीला का भावमय अनुध्यान भक्त के साधन-जीवन का मुख्य प्रेरणा-स्रोत होगा।

वल्लभाचार्य भक्तिसाधना में सिद्ध हों या न हों, वे भक्तिरस-साहित्य के प्रकण्ड विद्वान तथा व्याख्याता थे, इसमें संदेह नहीं। उत्तर भारत के अनेक तीर्थों का भ्रमण करते-करते, ये प्रतिभाधर आचार्य गुजरात में आकर उपस्थित हुए। बहुत से भक्त, सेठ एवं राज-रजवाड़ों की सहायता से उन्होंने नाथद्वारा के श्रीनाथ मंदिर की समारोहपूर्वक स्थापना की तथा इस मंदिर की प्रसिद्धि शीघ्र ही, केवल गुजरता में ही नहीं, वरन् सारे उत्तर भारत में फैल गयी।

आचार्य के पुत्र विट्ठलनाथजी ने बाद में गुजरात में कई बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण कराया। भक्त सूरदास एवं अस्टछाप गोष्ठी के और भी दो एक कवि-साधक विट्ठलनाथ जी के भक्तिवाद द्वारा काफी हद तक प्रभावित हुए थे।

वल्लभाचार्य की कृष्ण-निष्ठा एवं प्रेमभक्तिवाद ने गुजरात में अनेक भक्तों को प्रेरणा प्रदान की थी। स्वभावतः नरसी मेहता

---

१. गोस्वामी वल्लभाचार्य का जन्म काल १४७९ ई० है। दीर्घकाल तक जीवित रह कर उन्होंने भक्ति धर्म का प्रचार किया था।

भी उनके भावादर्श से काफी हद तक अनुप्राणित हुए थे। परन्तु भक्त नरसी के जीवन में वृन्दावन में नव उज्जीवित प्रेमधर्म का ही प्रभाव अधिक था, और इस प्रेमधर्म का प्रधान स्रोत था श्रीचैतन्य और उनके वृन्दावन वासी शक्तिघर वैष्णव पार्षदों की साधना एवं प्रचार-कुशलता।

इस प्रसंग में गुजराती साहित्य के विशिष्ट इतिहासकार, मनीषी के० एम० मुंशी ने लिखा है, "श्रीचैतन्य के हृदय की एकमात्र अभिलाषा थी कि वृन्दावन भक्ति-आन्दोलन के प्राण के रूप में परिणत हो। १५१० ई० में उनके विशिष्ठ भक्त, लोकनाथ गोस्वामी ने वृन्दावन के एक पवित्र कुंज में अपने साधन-आसन की स्थापना करके प्रचार प्रारंभ किया। १५१६ ई० में दो मुसलमान उमरावों ने उनको शिक्षा-गुरु के रूप में वरण किया एवं उनके शरणागत हुए। उत्तर काल में रूप सनातन एवं उनके विद्वान भ्रातृपुत्र जीवगोस्वामी ने वृन्दावन को भक्ति धर्म के एक प्रधान साधन-पीठ एवं प्रचार केन्द्र के रूप में परिणत किया। उनके सुयोग्य नेतृत्व तथा प्रभाव के फलस्वरूप वृन्दाबनी भक्तिधारा ने समग्र देश को परिप्लावित कर डाला। इष्टदेव कृष्ण की ओर पूर्ण समर्पण की भावना से अग्रसर होना होगा, तथा सारा प्रेम उन्हीं को अर्पित करना होगा--प्रेम-भक्ति साधना का यही आदर्श उन दिनों जनजीवन के सभी स्तरों पर प्रसारित होता गया। इस तरह भक्तिवाद, इस देश में एक सृष्टिधर्मी शक्ति-प्रहार की तरह समागत हुआ। उसके फलस्वरूप प्रत्येक घर में प्रेम और आनन्द की वाणी पहुँचने लगी, जिससे आर्य संस्कृति की धारा नवीन शक्तियों से उज्जीवित होती रही। भक्ति का नवीन ज्वार सोलहवीं सदी में वृन्दावन से गुजरात के दो श्रेष्ठ भक्त कवि मीराबाई एवं नरसी मेहता, वृन्दावन के ही शक्तिधरों एवं आचार्यो द्वारा प्रभावित हुए थे।"[1]

---

१. के० एम० मुंशी : गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर---पृ० १७९

विख्यात विद्वान श्री कन्हैया लाल मुंशी के विचारों को मान लेने पर यह कहना ही पड़ेगा कि गुजरात के भक्तिसिद्ध महापुरुष नरसी महता, महाप्रभु श्री चैतन्य से ही प्रभावित थे एवं चैतन्य-वृक्ष के ही एक मधुर फल थे।

नरसी की कृष्ण-साधना की विशिष्टता थी, कृष्ण लीला के मधुर पदों की रचना। गुजराती तथा हिन्दी साहित्य में इस साधक कवि के प्रतिभादीप्त बहुत से अवदान दृष्टिगोचर होते हैं। इस संदर्भ में नरसी के जीवन एवं साहित्य के विषय में आलोचना करते हुए मुंशी की लिखते हैं, "नरसी के आकर्षक एवं सरस पद कई सौ वर्षों से जनसाधारण द्वारा गाये जाते हैं तथा उनकी व्याख्या होती है। इन पदों को जनप्रिय बनाने का श्रेय वल्लभाचार्य के अनुगामियों की ही चेष्ठा को है। भावी युग के भक्ति-उज्जीवन के बीज उन्हें इन पदों में निहित दृष्टिगोचर हुए थे। इसके फलस्वरूप नरसी मेहता की कृतियाँ गुजरात में व्याप्त हो गयीं। मात्र इतना ही नहीं, दूसरी भाषाओं में प्रचलित हो गयीं तथा भिन्न भाषाभाषी लेखकों द्वारा लिखी जाने पर वे काफी हद तक प्रक्षिप्त हो गयीं। नरसी के नाम से प्रचलित 'हरमाला' इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।—इस पद-संग्रह का आत्मप्रकाश हुआ १६५० ई० में। वाद में प्रेमानन्द एवं अन्यान्य कवियों ने इसका पुनर्विन्यास एवं पुनर्लेखन संपन्न किया।

नरसी के पदों की संख्या सात सौ चालीस से ऊपर है। इनका प्रकाशन श्रृंगारमाला के नाम से हुआ है। यह काव्यमाला कृष्णकथा, कृष्ण एवं गोपियों की मिलन-विरह लीला से भरपूर है। प्रेमभक्ति के जीवन्त विग्रह, तथा कृष्णप्रेम में सदा उन्मत्त श्री चैतन्य के मधुर रसात्मक भजन एवं तीव्र भावमयता का प्रभाव इनमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

नरसी के रास-सहस्रपदी में १२३ रसमधुर गीत एवं कविताएँ संग्रहीत हैं। भागवत एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण से रासलीला के उपा-

ख्यानों का चयन करके अपने साधना-जीवन, हृदय के आवेग तथा कवित्व शक्ति से उन्होंने इस पदसमूह को मनोहर बना डाला है।

उनकी अन्य उल्लेखयोग्य काव्य-रचनाओं में सुरतसंग्राम के अन्दर वसन्त नां पदो, हिन्दोला नां पदो एवं भागवत के स्कन्ध में वर्णित कृष्ण लीला के कितने ही अपूर्व काव्य चित्र हैं।

'शामल-शा-तो-विवाह' नामक एक आत्मस्मृतिमूलक कवित्त की भी भक्त कवि नरसी रचना कर गये हैं। इसमें उनके व्यक्तिगत जीवन एवं परिवार के अनेक तथ्य परिवेशित हुए हैं।

गुजराती साहित्य में नरसी मेहता का प्रभाव दूरप्रसारी था, इसमें संदेह नहीं।—"उनके द्वारा रचित पदों के माध्यम से उन्होंने तीव्र आवेग एवं सौन्दर्य-पिपासा का परिचय दिया है। उनके द्वारा रचित घीर गति प्रभाती छन्द समन्वित संगीत उषाकालीन स्तुति अथवा भजन-संगीत में उपयोगी है, और उसने गुजरातियों के भाव एवं भाषा को परिवर्तित किया है। नरसी के पदों में सूक्ष्म रस-बोध का परिचय उतना नहीं मिलता। मीरा का लावण्य एवं छन्द-सुषमा उनमें नहीं है न भक्त सूरदास की तीव्र आवेग-धर्मिता ही, और न गोस्वामी तुलसीदास के शाश्वत जीवन-बोध की मर्यादा। उनकी भाषा संभवतः कुछ अधिक अहंकारपूर्ण है। उच्च श्रेणी की कविता जिस सूक्ष्म स्पर्श की सृष्टि करती है, नरसी में वह अनुपस्थित है। परन्तु यह बात स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि वे अपने युग के प्राणहीन साहित्य के गतिरोध को तोड़कर बाहर निकल आये एवं गुजराती कविता को निर्वैयक्तिक से व्यक्ति-भित्तिक शिल्प-कला के रूप में उन्होंने परिणत किया। कवि, भक्तसाधक एवं सनातन आर्य धर्म के संवाहक के रूप में, नरसी मेहता का गुजरात के धर्म-संस्कृतिमय जीवन में विशिष्ट स्थान था। आज भी अपनी उसी मर्यादा पर अधीष्ठित हैं।"[1]

---

१. मुंशी : गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर—पृ० १६६

नरसी का जूनागढ़ का जीवन एक अपूर्व भावमयता और भक्ति उन्माद के माध्यम से शुरू हुआ। जाति-वर्ण-निर्विशेष, सारे मनुष्यों में प्रेम-साधना की वाणी का वे उत्साहपूर्वक प्रचार करते थे। अपनी सम्पूर्ण सत्ता को उन्होंने भजनमय तथा कृष्ण-सर्वस्व बना डाला था। उनके घर का आंगन अगणित भक्तों के लिए आश्रय-स्थल वन गया था।

दिन-रात उनके घर पर रहता नाम गान एवं कीर्तन का समारोह। नरसी सर्वथा निर्लिप्त थे तथा भक्त एवं गुणग्राहियों की सहायता से, किसी प्रकार, सपरिवार उनके भोजन की व्यवस्था हो जाती थी। ऐसी अवस्था में कीर्तन-उत्सव और इतनी मात्रा में प्रसादान्न का जोगाड़ किस तरह हो जाता है, वह भी बड़े विस्मय की बात है। कीर्तनियों तथा वादकों के साथ सैकड़ों भक्त तथा दर्शनार्थी भी सम्मिलित हैं। इन सभी के लिए प्रसादान्न के बन्दो-बस्त की आवश्यकता है। कौन खाद्य-सामग्री जुटा रहा है, तथा कहाँ से अर्थ की व्यवस्था हो रही हैं, उसे समझना कठिन है। मानों नरसी मेहता के घर ही कृष्ण की गृहस्थी वस गयी है, और अदृश्य रूप से प्रभु कृष्ण ही सारा दायित्व वहन कर रहे हैं।

शहर के सारे ब्राह्मण-समाज में नरसी के प्रति एक बहुत बड़ा आक्रोश है। नरसी का यह सर्वजनीन भक्तिवाद, निम्न वर्ण के नरनारियों के साथ उनको घनिष्टता, उनके लिए असह्य है। बुजुर्ग ब्राह्मणों का एक दल अपनी बात नरसी से कहने आया हुआ है, और नाना सदुपदेश दे रहा है। बातचीत में ही उन लोगों ने कहा, "नरसी, तुम वैष्णव हो गये हो, यह तो बड़ी ही अच्छी बात है। तुम विष्णु की आराधना शास्त्रोक्त रूप से करो, इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। परन्तु, यह सब क्या हो रहा है? प्रेम-धर्म के नाम पर तुम शहर के इतने फालतू तथा अछूत लोगों के साथ मूर्खों की तरह पागलों जैसा हरकत करते हो। इससे तुम्हारा किंवा

उनका, किसी का कल्याण नहीं होगा। अबसे तुम यथार्थ रूप से वैष्णव होने की चेष्टा करो।"

'वैष्णव – वैष्णव' कहते, भक्त-प्रवर नरसी के दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह चली। थोड़ा संभलने पर भक्त-कवि के मुख से एक अपूर्व संगीत पद निकल पड़ा। वे गाने लगे—

वैष्णव जन तो तेणे कहिये,
जे पीर पराई जाणें रे।
परदुःख उपकार करे ते,
मन अभिमान न जाणे से ॥
सकल लोक मां सहुने बन्दे,
निन्दा ते न करे केनी रे।
वीच काच मन निश्चल राखे तो,
धन्य-धन्य जननी तेणी रे ॥
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी,
परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा कभी असत्य न बोले.
परधन नव लाने हाथ रे।
मोहमाया व्यापे नहिं तेणें,
दृढ़ वैराग्य जेना मन मां रे।
रामनाम सूँ तालि के लागी,
सकल तीरथ तेणा तनमा रे ॥
वण लोभी ने कपटरहित छे,
काभ क्रोध तिर्वार्या रे।
भणे नरसियो तेनूँ दरशन करताँ,
कुल हको तेर तार्या के ॥'

---

१. नरसी का यह भक्तिरसात्मक पद उत्तर काल में महात्मा गाँधी के लिए प्रेरणा स्रोत था। इस पद को उन्होंने अपने जीवन की प्रधान स्तवगाथा के रूप में हृदय से ग्रहण किया था।

नरसी मेहता स्वयं विशुद्ध वैष्णव थे, अपापविद्ध महापुरुष। उनकी स्वच्छ दृष्टि तथा जीवन-दर्शन के समक्ष, इसी कारण साधु वैष्णव की आध्यात्मिक उपलब्धि महान हो गयी है; तथा सारे गुण एवं ऐश्वर्य गौण हो गये हैं। एक प्रसिद्ध पद में नरसी कहते हैं :—

स्नान, तर्पण और आराधना से ही क्या सब-कुछ मिलेगा ?
क्या परम प्रभु के दर्शन प्राप्त हो सकेंगे ?
घर के किसी स्निग्ध छायाच्छन्न कोने में रहकर,
अजस्र दान-दातव्य में हमने जीवन बिताया—
हे भाई, क्या उसीसे सब-कुछ मिलेगा ?
लेकिन उसके फलस्वरूप क्या मिलेगा वह परम धन ?
जाति – वर्ण
लेकिन विषय-सुख के अलावा और क्या मिलेगा उससे ?
नरसी कहता है, जीवन के मणिगृह में,
सदा जाग्रत रहता है जो परमात्मा—
उसे जो न पा सके, उसके लिए सब वृथा है।
चिन्तामणि रत्न-सम अमूल्य है जो मानव जीवन,
उसे वह खो देता है, सर्वदा के लिए।

परम तत्व के विचार के प्रति नरसी ने सर्वदा बल दिया है असल साधन मार्ग के ऊपर! उन्होंने दर्शन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म में व्यस्त न होकर आत्मशक्ति की प्रयोजनीयता पर ही विशेष जोर दिया है। आत्माभिमान नाश के ऊपर विशेष बल देते हुए उन्होंने साधकों के लिए गाया है :

सत्य क्या उद्घाटित होता कभी
और तत्व के विचार ?
जीवात्मा, भगवान् और परमात्मा के
भेदाभेद निर्णय करे ?
कहे नरसी, प्रथमतः दूर करो सकल भेद-बुद्धि

विस्मृत करो 'मैं' 'तुम' का पार्थक्य बोध,
तभी होगा गुरु का आविर्भाव—
अग्रसर हो देने हेतु कल्याण हस्त !

व्यक्तिगत साधन-जीवन में नरसी सर्वदा भक्ति-प्रेमसाधना के मधुर पथ का ही अनुशीलन करते। गौड़ीय वैष्णवों के अनुरूप ही उन्होंने भागवत् पुराण को ही अपनी प्रेमसाधना की भित्ति रूप में स्वीकार किया था। कृष्ण एवं गोपबालाओं की मिलन-विरह-लीला के रस का पान उन्होंने आकंठ डूब कर किया था—और इस परम रस से ओतप्रोत हो गये थे।

दिन-पर-दिन वे इष्टदेव कृष्ण की ओर ही अग्रसर होते चले गये। उनका हृदय गोपी-भाव से सर्वदा विभोर रहता। कभी हंसना रोना, कभी मधुर रस की प्रगाढ़ता, तो कभी कृपालु की आत्म विस्मृत कर देनेवाली स्तुति में वे विभोर रहते। निगूढ़ प्रेम-साधना एवं सिद्धि की ओर इंगित करते हुए एक पद में महाभक्त नरसी ने गाया है:

भुवनस्वामी कृष्ण का करपल्लव मैंने धारण किया है,
मैंने अपने प्रेम को अंगीकार किया है।
तब और किससे में भय करूंगा ?
रासलीला के सुमधुर भुवन मोहन दृश्य ने,
मुझे सम्कोहित किया है,
परम अद्भुत रूपांतर हो गया है,
तन मेरा मानो गोपीतन हो गया है।
मानिनी राधा के निकट करता हूँ उपवेशन,
सखी रूप में कोमल कण्ठ से करता हूँ कितना आस्वादन,
प्रेमलीला की हो रही है कितनी विचित्र अभिज्ञता।
राधारानी के निकट बस कर,
प्रेमपूर्ण वंशीवादन करता है जो,

सखि, वही तो है मेरा जीवन-स्वामी,
सर्वदा के लिए ले चुका है देह, मन, प्राण ।

कान्ता-भाव, एवं गोपी-भाव के एक और मनोज्ञ पद में प्रेमिक साधक नरसी, कृपालु कृष्ण की एक अपरुप रसमय मूर्ति प्रस्तुत कर गये हैं :

सखि, कृपालु मुझे बुला रहा है वंशी के स्वर से :
एक क्षण के लिए भी और अधिक सही जाती नहीं,
हृदय में उल्लास की वह प्रथम भावना उठी है,
एक वार देखना चाहता हूँ उसका वह चन्द्रवदन ।
बोलो, बोलो, इस हेतु क्या करना होगा मुझे,
कृष्ण के गले से लिपटी थीं मेरी भुजाएँ,
उसकी मुख सुधा का पान कर रहा था
किस हेतु ....
उसकी वंशी के जादू ने मुझे आच्छन्न कर दिया है
उसकी दो मोहक आँखों में तीक्ष्ण वाण हैं,
और अंग-लावण्य मुझे अवश-विह्वल बना रहा है ।
सखि, मेरे श्याम के युगल नयन अतुलनीय हैं ।
उसमें प्रेम का अमोघ मायाजाल स्थित है,
रस-जाल को छिन्न करके,
बोलो तो, कैसे जाऊँ वापस अपने घर ?
सखि, मेरे देह-मन-प्राण,
सव चोरी हो गये हैं ।

नरसी की यह कृष्ण-भावना तथा यह कृष्णचर्या मात्र प्रेमरस के उच्छ्वास और भावुकता तक ही निबद्ध नहीं रही । वरन्, वह कृष्णसत्ता की उदार एवं गगनचुंवी महिमा को स्पर्श कर गयी है । परम पुरुष कृष्ण के अनाद्यन्त स्वरूप का वर्णन करते हुए साधक कवि

के कण्ठ से जो पद उत्सारित हुआ है, उसकी किसी भी भक्ति साहित्य से तुलना करना कठिन है :

—एक बार दृष्टिपात करो
उदार निःसीम आकाश पर :
कौन है ओतप्रोत वहां ?
उच्चारण करता कौन यह महान वाणी,
—मैं वही हूँ, मैं वही हूँ ?
अभीष्ट मेरा—कृष्ण चरणों में करूँगा देह का विसर्जन
कारण, प्राणप्रभु कृष्ण की कहाँ तुलना ?
मन मेरा डूबा हुआ संसार के तरल सुख में·
गंभीर, घनघोर कृष्ण महिमा का
मोल वह करेगा किस तरह ?
चेतन एवं जड़, उभय को ही जानो—
एक एवं अद्वितीय समझ कर;
चिरंतन जीवन-सत्ता को प्रेमपूर्वक पकड़े रहो,
दृष्टिपात करो ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनन्त आकाश पर,
जहाँ लक्ष, कोटि उदित भानुओं का
उद्वेलित ज्योति का महोत्सव चल रहा है।
जहाँ महाकाश में ओतप्रोत है हिरण्य वर्ण अग्निस्रोत,
वहाँ परम प्रभु की आनन्द-लीला का विराम नहीं—
अनाद्यन्त काल से झूल रहा है उसका स्वर्ण-झूला।
कालजयी ज्योति की दीपशिखा वहाँ है सदा प्रज्वलित,
उस दीप में प्रयोजन नहीं तेल या बाती का
वह दीप है निष्कम्प—अनिर्वाण।
आओ हम दर्शन करें उस परम पुरुष का,
दर्शन करें नयन व्यतिरेक से—
दर्शन करें उनका ही, जो है निराकार—सीमाहीन।

आओ, इस दिव्य आनन्दामृत का पान हम करें
पार्थिव जिह्वा की सहायता के बिना।
चिर अजाना, चिर विद्यमान यह परम सत्ता
प्रज्ज्वलित है महाकाश में अनाद्यन्त काल से।
नरसी के प्रभु व्याप्त हैं सकल सृष्टि में
किन्तु केवल साधुओं के प्रेम जाल में जाते हैं पकड़।

नरसी की ख्याति भक्तिसिद्ध महापुरुष के रूप में सर्वत्र फैलती गयी, एवं यह ख्याति जूनागढ़ की सीमा के अलावा गुजरात के सारे क्षेत्रों में फैल गयी। नरसी की दिनचर्या का अधिकांश भाग प्रभुजी के नामगान तथा नृत्य कीर्तन में ही कट जाता। भावावेश में जब भी जिस लीला-दृश्य का मानस पटल पर उदय होता, भक्त कवि उसे स्वरचित, रसमधुर पदों में बाँध लेते। उसके बाद भक्तगणों के साथ चलता उद्धत नृत्य एवं कीर्तन। क्रमशः नरसी की यह कीर्तन-सभा जूनागढ़ के एक श्रेष्ठ आकर्षण के रूप में गण्य होने लगी।

भक्तगोष्ठी सहित इस वृहत् गृहस्थी में जिसे नरसी, ठाकुर रणछोड़ जी की गृहस्थी कहते, एक दिन का भी व्यवधान नहीं पड़ा। प्रभु की कृपा तथा भक्त शिष्यों की सहायता से इसका व्यय दिन-पर-दिन निर्बाध गति से चलता रहा। भक्तिमती पत्नी मानिक बाई की सेवा तथा व्यवस्था भी इस संसार को चलाने में कम सहायक नहीं हुई।

कन्या कुंवरबाई ने धीरे-धीरे यौवन में पदार्पण किया। अब उसके विवाह की व्यवस्था करनी ही होगी। वन्धु-बान्धवों की सहायता से यह शुभ कार्य संपन्न करने में भी अधिक विलम्ब नहीं हुआ। व्ययसाध्य स्वागत-संस्कार तथा समाजिक दायित्वों का भी किसी प्रकार निर्वाह किया गया।

परन्तु नरसी, पुत्र के विवाह के समय महान विपत्ति में पड़े। प्रभाती भजन तथा कीर्तन समाप्त हो चुका है। भक्त शिष्यों के

साथ ही विश्राम कर रहे हैं। इसी समय एक वृद्ध पुरोहित ब्राह्मण उनके सम्मुख आये। उन्होंने विवेदन किया, "भक्त प्रवर, आपके नृत्य-कीर्तन तथा भगवत् भाव से विभोर नयन-मन-लोभन मूर्त्ति को देखकर मुग्ध हो गया हूँ। अव थोड़ा अवसर पाकर, एक शुभ प्रस्ताव आपके सम्मुख प्रस्तुत थरना चाहता हूँ।"

"कृपा कर, आप क्या चाहते हैं, यह बताने का कष्ट करें"—आसन का त्याग करके हाथ जोड़ कर नरसी ने उत्तर दिया।

"मैं दो दिन पूर्व जूनागढ़ आया हूँ। स्थायी निवास बड़नगर में हैं। संभवतः प्रतापशाली मदन मेहता का नाम आपको ज्ञात है। मैं उन्हीं का प्रतिनिधि होकर इस क्षेत्र का चक्कर लगा रहा हूँ। मदन मेहता की एक रूपवती विवाह योग्य कन्या है। उसके लिए एक सुपात्र की आवश्यकता है।"

"आपका असल मन्तव्य क्या है" ?

"मेरा प्रस्ताव है कि आपके पुत्र के साथ मदन मेहता की कन्या का विवाह संपन्न हो।"

"ऐसा किस तरह होना संभव है? मदन मेहता तो बड़नगर राज्य के दिक्पालो में से हैं। तथा मैं हूँ कंगाल, जिसके पास एक जोड़ा करताल के अलावा कोई संपत्ति ही नहीं है। ऐसे दीन-दरिद्र ब्राह्मण के पुत्र के साथ मदन मेहता की कन्या का विवाह? यह होना तो संभव नहीं।"

"नरसी मेहता, आपके कृष्ण की इच्छामात्र से सब-कुछ संभव हो जायगा।

"इसमें तो कोई संदेह नहीं। किन्तु बात क्या है, यह तो खोल कर बताइये?"

"फिर सुनें। मैं कई दिनों से जूनागड़ आया हुआ हूँ। इन कई दिनों से मैं इस कीर्त्तन सभा में उत्साहपूर्वक उपस्थित होता रहा। मैं स्वयं अपने नेत्रों से आपका अति अद्भुत प्रम-भक्तिभाव

स्पष्ट देखता रहा। कृष्ण से नितान्त आत्मिक संवन्ध न होने पर ऐसे सात्विक भावों का उदय तो मानव-जीवन में होता नहीं ! आपके पुत्र श्यामल को भी मैंने इतने दिनों में पूरी तरह परखा है। वह जितना ही सत् एवं धर्मनिष्ठ है, दूसरों की सेवा तथा उपकार के लिए भी उसका उतना ही उत्साह है। इस युवक को ही मैंने मदन मेहता की पुत्री के लिए वर मनोनित किया है।"

"पंडित जी, मैंने सारी बातें सुनीं, परन्तु मदन मेहता तो बहुत धनी व्यक्ति हैं। बड़नगर के दरबार में उनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है। मेरे जैसे कंगाल के पुत्र को वे क्यों जामाता बनावेंगे ?"

उन्हें समझा दूंगा, भाई। इस व्यापार के लिए मदन मेहता ने सारे दायित्व मेरे ऊपर डाल दिए हैं। और मेरी दृष्टि में, आपके पुत्र श्यामल से अधिक उपयुक्त पात्र मुझे कहीं दिखलाई नहीं पड़ा। इस प्रस्ताव को ठुकराना नहीं, भाई।"

इस खबर के फैलने में भी अधिक दिलम्ब नहीं हुआ। ईर्ष्या-परायण स्वजातियों का एक दल नरसी के पास उपस्थित हुआ। व्यंग्य से वे लोग कहने लगे, "नरसी, बलिहारी है तुम्हारी चालाकी पर। इधर तो तुम दीन, भिखारी वैष्णव बन कर अपनी कंगाली दिखा रहे हो। और उधर पुत्रवधू ला रहे हो मदन मेहता के जैसे धनी घर से। जो भी हो, बड़े लोगों के कुटुम्ब के साथ बन्धन करने में समर्थ तो हो सकोगे ?"

"कुटुम्ब अवश्य धनी है, परन्तु उससे हमें क्या लेना-देना"—नरसी ने सविनय निवेदन किया।

"लेना-देना क्यों नहीं है ? हम नागर ब्रह्मणों का एक सामाजिक सम्मान तथा कुल-गौरव है। तुम उसके अनुरूप कार्य नहीं करोगे, ऐसा हमलोग नहीं होने देंगे। वड़े लोगों की कन्या घर लाने के लिए तुम्हें बड़े लोगों जैसा ही इस विवाह में खर्च करना होगा।

हम लोगों के वंश-गौरव में थोड़ी भी कमी होने पर हमलोग तुम्हें समाजच्युत करेंगे, इस बात का स्मरण रखना।"

सरल हृदय नरसी, इस बात से बहुत भयभीत हो उठे। मदन मेहता के पंडित से वे बात पक्की कर चुके हैं, और उनके पास एक फूटी कौड़ी की भी व्यवस्था नहीं है, और इधर वंश-गौरव के निर्वाह के लिए दबाव पड़ रहा है। समारोह के साथ यह विवाह न होने पर उनकी परेशानी की सीमा नहीं रहेगी। यह तो महान संकट ही सिर पर आ गया है !

पत्नी मानिक बाई ने सारी बातें शांति से सुनी और कहा, "इसके लिए तुम इतना परेशान क्यों हो रहे हो। जिसके बंधु एवं प्रभु द्वारकाधीश रणछोड़ जी स्वयं हैं —उसे किसी वस्तु का अभाव है ? तुम आज ही रवाना हो जाओ और जाकर प्रभु से सारी स्थिति स्पष्ट करो। निश्चित रूप से वे इसके लिए कोई व्यवस्था करेंगे।"

इस प्रस्ताव को सुनकर नरसी की खुशी का तो ठिकाना नहीं रहा। काफी दिनों से श्री विग्रह रणछोड़ जी का दर्शन भी नहीं हो सका था। दूसरे ही दिन उषाकाल में उठकर वे प्राणप्रभु के अधिष्ठान क्षेत्र के लिए रवाना हो गये।

द्वारका पहुँच कर उन्हें मानिक वाई की किसी बात का स्मरण ही नहीं रहा। कभी दिव्य भाव के आवेश में तो कभी भजनानन्द में, कई दिन व्यतीत हो गए। अन्त में प्रभुने एक दिन उन्हें दर्शन दिये। प्रेम पूर्वक उन्होंने कहा, "अब अधिक नहीं, तुम अपने घर वापस चले जाओ। वहाँ मेरे अगणित भक्त तुम्हारे ऊपर निर्भर रहते हैं। देखो, मानिक वाई ने ठीक ही बात कही है। मैं तेरा प्राणप्रिय बन्धु हूँ, इहकाल तथा परकाल दोनों का ही बन्धु। इन दोनों को ही देखना मुझे ही है। तुम चिन्ता न करना, श्यामल का का विवाह अच्छी तरह संपन्न हो जायेगा।"

"तभी तो प्रभु तुम्हारे पास आने के बाद मैं घर गृहस्थी की समस्याओं की सारी बात एकदम भूल ही गया था। अच्छा ही हुआ, तुमने ध्यान में रखा। मैं कंगाल हूँ, निर्यातन तथा अपमान का भय मुझे नहीं है। परन्तु सभी जानते हैं कि तुम्हारे जैसा राज-राजेश्वर मेरा प्रतिपालक एवं बन्धु है। ध्यान रखना, तुम्हारी कोई निंदा या आलोचना न हो। ऐसा होने पर मेरे प्राण नहीं बचेंगे।"

"नरसी, चिन्ता न करो, ऐसा नहीं होगा। साथ ही यह भी समझ लो, जो एक हाथ से संसार तथा दूसरे से मुझे पकड़ने की चेष्टा करते हैं, उनका भार लेना मेरे लिए संभव नहीं है। अहंबोध का प्राचीर बनाकर वे मुझे अपने से दूर ही रखते है। तथा जो सारी वस्तुओं का सर्वदा के लिए त्याग कर देते हैं, तथा मुझे दोनों हाथों से पकड़ लेते हैं, उनके सारे भार को ग्रहण करने के अलावा मेरे पास कोई उपाय ही नहीं रहता। तुमने जो दोनों हाथों से मुझे पकड़ कर पूर्ण शरणागति ले ली है, इसी कारण तो तुम्हारी सारी समस्याओं पर मेरी निरंतर दृष्टि रहती है।"

आश्वस्त होकर परमानन्दपूर्वक नरसी जूनागढ़ वापस लौट आये। पुत्र श्यामल का विवाह समय पर सम्पन्न हुआ, तथा वह भी सारे समारोह के साथ। द्रव्य की व्यवस्था, खाद्य समस्या, आलोक-सज्जा किसी में कोई त्रुटि नहीं थी। कौन-किसके निर्देश से कार्य करता जा रहा है, यह बात किसी की समझ में नहीं आयी। स्वजातीय नागर लोग तो यह अद्भुत काण्ड देखकर विस्मित रह गये। कोई कहता, यह नरसी की सिद्धि का खेल है। कोई कहता कि नरसी के भक्त शिष्यों की संख्या आजकल प्रचुर है, तथा उन्हीं लोगों ने प्राणपण से सहायता का है, और इस विपत्ति से उनका उद्धार किया है।

दीन-दरिद्र तथा अन्त्यजों के लिए नरसी की करुणा तथा प्रेम

का कोई अन्त नहीं था। वस्तुतः उनकी हरिसभा का प्रांगण समाज की निम्न श्रेणी के मनुष्यों का आश्रय स्थल था, तप्त-दग्ध एवं लांछित जीवन के लिए शांति का स्थान।

एक दिन ग्रामीण क्षेत्र के कुछ लोगों ने आकर निवेदन किया, "प्रभु, नित्य तो आपके आंगन में ही आनन्द की हाट जुटती है, तथा हरिकथा एवं हरिकीर्त्तन से सभी लोग परितृप्त होते हैं। हम लोगों की आंतरिक इच्छा है कि एक दिन हम लोगों के क्षेत्र तथा हम लोगों के कुटीर में यह हरिसभा जमे। हम लोगों की यह मनोकामना क्या पूर्ण होगी? अछूतों के मध्य जाकर कीर्त्तन करने को क्या आप राजी होंगे? डरते हुए ही हम लोग आपसे यह प्रार्थना कर रहे हैं। अब आपकी जैसी इच्छा।"

"ऐसा क्या है? यह तुम लोग क्या कह रहे हो"– कहते-कहते सजल नेत्रों तथा भावावेग-कंपित देह से नरसी मेहता आगे बढ़े। उन्होंने प्रेमपूर्वक अपने गँवार अस्पृश्य भक्तों को आलिंगन-बद्ध कर लिया। कहा, "कृष्ण-सेवा का तो तुम लोगों को ही सबसे अधिक अधिकार है। और उसके लिए सुयोग भी तुम्हारे ही पास है।"

अपार विस्मय के साथ उन लोगों का दल प्रेमाविष्ठ महापुरुष की ओर देखता ही रह गया।

नरसी मेहता बोलते गये, "प्रभु की क्या कम कृपा तुम्हारे ऊपर है? तुम्हें उन्होंने संपत्ति से बंचित रखा, तथा उच्च वर्ण का गौरव भी प्रदान नहीं किया। इसके फलस्वरूप तुम्हारे अंदर धन तथा जाति-कुल का अभिमान प्रवेश नहीं कर पाया। क्यों? यह क्या, कम सौभाग्य की बात है? तुम लोग निर्धन एवं अन्त्यज हो, इसी कारण तो तुम अहंबोध की सीमा का इतनी सरलतापूवक अतिक्रमण कर जाते हो और प्राणप्रभु को इतनी सरलता से अपने हृदय में स्थापित कर पाते हो। दीन होने से ही तो तुम दीनदयाल

के विशेष कृपा-पात्र हो। फिर तुम लोगों जैसे भक्तों के आँगन में जाकर कीर्त्तन करूँ यह तो मेरे लिए सौभाग्य की बात है।"

"फिर आप आयेंगे तो, प्रभु ?"

"निश्चित रूप से मैं जाऊँगा—बार-बार जाऊँगा तुम्हारे अन्त्यज मुहल्ले में। वहाँ सभी मिलकर हृदय से प्राणप्रभु का नाम गान करेंगे।"

दूसरे ही दिन नरसी परम उत्साह से अन्त्यजों के क्षेत्र में सदल-बल जाकर उपस्थित हुए। सैकड़ों की संख्या में अस्पृश्य भक्त कृष्ण-नाम का प्रमत्त होकर कीर्त्तन कर रहे हैं, तथा भक्तिसिद्ध महात्मा नरसी मेहता उनके मध्य खड़े है। कभी भावावेश अर्ध बाह्य ज्ञान की अवस्था में हैं, तो कभी उद्दीप्त होकर प्रेमरस के नये-नये पद एवं स्तुतिगान गा रहे हैं। अन्त्यजों के मध्य, उस दिन भक्ति-प्रेम का एक प्रचण्ड ज्वार बह चला।

परंपरा-परायण, नागर ब्राह्मणगण नरसी के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। आक्रोश से भरे हुए, उनमें से अनेक उनके आंगन में उपस्थित हुए, तथा उत्तेजित स्वर में कहने लगे, " ब्राह्मण की संतान होकर, विशेष कर शास्त्रविद् नागर ब्राह्मणों के कुल में जन्म-ग्रहण करके तुम ऐसा जघन्य आचरण क्यों कर रहे हो, नरसी ? अपने घर में तुमने कीर्तन की जमात जुटाई है, राज्य में जितने अस्पृश्य हैं उनका तुमने जमघट लगा रखा है, इस पर भी अबतक हम लोगों ने कुछ भी नहीं कहा। अपना मुँह बन्द करके सहन किया। अब तुम सहन की सीमा का अतिक्रमण कर रहे हो। यह सब हम लोग किसी तरह भी नहीं चलने देंगे। ऐसा करने से क्या कोई भी नागर ब्राह्मणों को मान्यता देगा ?

"ठीक है, फिर आप लोगों की क्या आज्ञा ?"

'तुमने जो भी पाप किया है, उसका प्रायश्चित करो। उसके

वाद समाज में सभी के सामने हाथ जोड़ कर प्रतिज्ञा करो कि अब से अस्पृश्यों के साथ संबंध नहीं रखोगे।"

"ऐसा किस तरह हो सकता है? वे तो हरि के अपने हैं—हरिजन। उनका साथ मैं किस तरह छोड़ सकता हूँ, आप ही बतायें?", दृढ़ स्वर में नरसी मेहता ने कहा।

"ठीक है, फिर तुम अपने अछूत बन्धुओं के साथ ही रहो। आज से नागर ब्राह्मण-समाज में तुम्हारे लिए कोई स्थान नही रहा। सर्वदा के लिए तुम जातिच्युत किए गए।"—यह अन्तिम चेतावनी देते हुए, क्रोधोद्दीप्त जाति के लोग विदा हो गये।

थोड़े ही दिनों में जूनागढ़ के नागर ब्राह्मण समाज में किसी धनी के घर विवाह के उत्सव की तैयारी हुई। इस समारोह में नरसी को निमंत्रित नहीं किया गया। एक घर के व्यक्तियों को भोजन पर बुलाकर कौन विपत्ति में पड़ेगा?

विवाह समारोह के साथ सम्पन्न हो गया। अब भोजन की तैयारी शुरु हो गई। समाज के सभी प्रधान व्यक्ति भोजन की पंगत में बैठ हुए हैं। अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन परोसे जा रहे हैं। चारों ओर तारीफ के पुल बंध रहे हैं। सहसा, इस आनन्दमय परिवेश में एक गंभीर बाधा उत्पन्न हो गई। भोजनरत नागर ब्राह्मणों ने विस्मयपूर्वक देखा कि उनमें से प्रत्येक के पास एक-एक अस्पृश्य गंवार बैठा हुआ है। यह कैसा आश्चर्य। प्रत्येक निमंत्रित अतिथि, इसके प्रत्यक्षदर्शी थे। छुआछूत मानने वाले, परंपरावादी लोग घृणा तथा विस्मय से सिहर उठे। भोजन पात्र का त्याग कर, लज्जानत नयन लिए वे जल्दी से एक-साथ उठ पड़े।

विचार विमर्श प्रारम्भ हो गया। बात भी कोई मामूली नहीं थी। पंगत में बैठकर समाज के इतने लोगों ने एक साथ जो इन्द्रजाल प्रत्यक्ष रूप से देखा, उसे मामूली बात समझ कर टाल जाना तो सम्भव नहीं है।

समाज के एक विशिष्ट, प्रधान व्यक्ति ने चिंतित स्वर में सभी से कहा, "देखो, हम सभी लोगों ने आज यहाँ पर जो अलौकिक दृश्य देखा है, वह वास्तव में विस्मयजनक है। तुम लोग जो कुछ भी कहो, हमारे नरसी मेहता एक भक्ति-सिद्ध महापुरुष हैं और अनेक प्रकार की सिद्धियाँ उनके करतलगत हैं। इस बात को मान लेने के अलावा कोई चारा नहीं है। देश के सहस्रों लोग आज उनके पैरों पर गिर रहे हैं, तथा उनके आंगन में भीड़ लगाते हैं। उनमें ईश्वरीय शक्ति न होने पर क्या ऐसा करना सभव है?"

"फिर हम लोगों को इस समय क्या करना उचित है, वही आप कहें।"—समवेत स्वर में अनेक लोगों ने प्रश्न किया।

"सभी लोग एक साथ नरसी की कुटिया में चलो। हम सभी उनसे कहें कि हम लोगों ने उनके ऊपर वहुत अत्याचार किए हैं। हम लोगों का व्यवहार अत्यधिक कठोर रहा है जिसके लिए हम सब दुःखी हैं। और उनसे यह भी कहते आवें कि आज से वे जाति-च्युत नहीं हैं और हमारे सारे सामाजिक अनुष्ठानों में वे पहले जैसे ही योगदान कर सकेंगे।"

उस दिन से नरसी मेहता ससम्मान फिर से नागर ब्राह्मण समाज द्वारा अपना लिए गए।

प्रेमानन्द इत्यादि गुजराती कवि नरसी मेहता के अलौकिक जीवन से संवन्धित दो और कहानियों का वर्णन कर गये हैं।

नागर ब्राह्मणों की पगत में भोजन के दिन जो अलौकिक काण्ड घटित हुआ, वह बातों-बातों में ही सारे देश में फैल गया। जूनागढ़ के राजा, राय माण्डलिक ने भी इस कहानी को सुना।

कौतुहलवश राजा ने एक दूत भेज कर नरसी मेहता को अपने प्रासाद में आमंत्रित किया। नरसी वहाँ सदल-बल उपस्थित

हुए। उनके सद्य रचित, रसमधुर पदों का कीर्तन गान आरंभ हुआ। राजसभा आनन्द से भर उठी।

कीर्तन की समाप्ति पर माण्डलिक ने कहा, "भक्त कवि, आपका कीर्तन एवं पद सुन कर हम लोग बहुत संतुष्ट हुए हैं। परन्तु, मेरा एक व्यक्तिगत अनुरोध है, उसे आपको पूर्ण करना ही होगा।

"क्या अनुरोध है, बताने का कष्ट करें, राजा साहेब।"

"आज मेरा जन्म-दिन है। मेरी इच्छा है कि यहीं बैठे द्वारकाधीश रणछोड़ जी की प्रसादी माला पाकर धन्य होऊँ। आप रणछोड़ जी के चिह्नित सेवक तथा भक्तिसिद्ध साधक हैं। आप अभी, यहीं बैठे हुए, वह माला मेरे लिए मंगा दें।"

"यह क्या राजासाहेब! ऐसा कैसे हो सेकता है? मैं तो दीन-हीन भक्त हूँ। प्रभु की प्रसादी माला द्वारका से अभी मंगा सकूँ, ऐसी शक्ति मेरे पास कहाँ है?—हाथ जोड़ कर नरसी मेहता ने निवेदन किया।

राय माण्डलिक उत्तेजित हो उठे। क्रुध स्वर में उन्होंने कहा, "नरसी मेहता, आपकी सिद्धि की ख्याति मैंने सुनी है। नागर ब्राह्मणों की उस विवाह-सभा में जो आश्चर्यजनक घटना हुई थी और आपकी अलौकिक शक्ति का जो प्रकाश हुआ था, उससे जूनागढ़ में कौन अवगत नहीं है। आप मुझे टालने की चेष्टा न करें। ध्यान रखें कि मैं राजा हूँ और आप प्रजा हैं। इसके अलावा राजा का अनुरोध न मानने पर दण्ड मिलता है, वह क्या आपको ज्ञात नहीं है?"

नरसी सोच में पर गये। परम प्रभु के एकनिष्ट सेवक होकर वे दीनतापूर्वक अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। सिद्धि अथवा आलौकिक शक्तियों का प्रकाश दिखलाने की मनोवृत्ति उनकी

कभी रही नहीं। फिर प्रभु रणछोड़ जी ने किस संकट में लाकर डाल दिया।

हाथ जोड़ कर उन्होंने कहा, "राजा साहेब, मैं सच बोल रहा हूँ, मेरे पास ऐसी कोई अलौकिक शक्ति नहीं है। और वह रहेगी भी किस तरह? अपनी जो-जो आशा-आकांक्षा, शक्ति-सामर्थ्य थी, सभी को तो मैंने प्रभु के चरणों में निवेदित कर दिया है। उसे वापस लेना तो अब संभव नहीं है। मुझे आप क्षमा करें। यहां बैठ कर द्वारका में रणछोड़ जी की प्रसादी माला मंगा लेना मेरे लिए साध्य नहीं है।"

राय माण्डलिक क्रोध से फट पड़े। कहा, "नरसी मेहता! राज्य के सभी लोग कहते हैं कि आप भक्तिसिद्ध साधक हैं। आश्चर्य-जनक विभूतियाँ आपके करतल गत हैं। अगर इसमें कोई सच्चाई हैं, तो आप देश के राजा को, मुझको, यह सिद्धि दिखाने के लिए बाध्य हैं। और यदि आपमें यह क्षमता नहीं है, तब जो आपके सम्बन्ध में इन कहानियों का प्रचार करते हैं, उनका विरोध आप क्यों नहीं करते? क्यों तीव्र प्रतिवाद नहीं करते?"

"लोग मेरे विषय में मेरे नाम से क्या-क्या प्रचार करते हैं, उसके लिए मुझे माथापच्ची करने की क्या आवश्यकता है? मैं रणछोड़ जी का एक दीन-भक्त मात्र हूँ। अपनी कुटिया में बैठ कर उनके नाम-कीर्तन करता हूँ और अपने आनन्दाश्रु गिराता हूँ। इसके आलावा तो मेरा और कोई परिचय नहीं है, राजा साहेब!"

"यह सब फालतू बातें सुनने का मेरे पास समय नहीं है। आज रात्रि का अवशिष्ट समय आपको कारागार में बिताना होगा। यहीं बैठ कर एकांत में चेष्टा कीजिए और रणचोड़ जी की प्रसादी-माला मरे लिए मंगा दीजिए। नही तो कल प्रातः मरे आदेश से आपको मृत्यु-दण्ड दिया जायगा।"

सारी राजसभा राय माण्डलिक की इस कठोर घोषणा से कांप उठी। राजा के रक्षकगण उसी समय उन्हें पकड़ कर ले गये और निकटवर्ती कारागार में उन्हें कैद कर डाला।

आदेश की रक्षा न होने पर प्राणदण्ड मिलेगा, यही राजा का निर्देश था। परन्तु प्राणों के भय से नरसी भयभीत नहीं हैं। इष्टदेव के दोनों चरणों का ध्यान करते-करते उन्होंने शांत हृदय से काराकक्ष में प्रवेश किया।

विशाल लौहकपाट जोर से बन्द हो गया। हाथ जोड़ कर मुस्कुराते हुए, नरसी ने अब रणछोड़जी को संबोधित करते हुए कहा, "काराप्राचीर के मध्यन्तर में भेज कर तुम अच्छा ही कर रहे हो, प्रभु। अब तुम्हारे दीन-भक्त नरसी के आसपास कोई नहीं है जो उसे विभ्रान्त कर सके तथा मायापाश से आबद्ध कर सके। अब बन्दीगृह के निर्जन कक्ष में बैठ कर हृदय से तुम्हारा ही स्मरण तथा मनन करूँगा। तुम्हारा करुणाघन रूप आविर्भाव होगा और आमने-सामने हम दो ही होंगे—नरसी के प्राणप्रभु और नरसी। फिर भी मेरी एक प्रार्थना है। तुम्हारी ही इच्छा से राज्य के सभी लोग जान गये हैं कि नरसी तुम्हारा चिर शरणागत तथा तुम्हारा कृपासिद्ध भक्त है। राय माण्डलिक के समक्ष नरसी की मान-रक्षा करके, अपने शरणागति-तत्व की जय घोषणा करो, प्रभु।"

प्रातः काल इष्टमित्रों के साथ राय माण्डलिक, काराकक्ष के सम्मुख आकर उपस्थित हुए। चारों ओर भक्त जन एवं कौतूहली नरनारियों की भीड़ थी। द्वार खुलते ही दिखायी पड़ा भावाविष्ठ नरसी मेहता प्रभुका नाम लेकर उन्मत्त होकर कीर्तन कर रहे हैं। तथा परम आश्चर्य का विषय यह है कि उनके दोनों हाथों मे रणछोड़ जी की दो बड़ी-बड़ी मालाएँ हैं।

राज पुरोहितगण आनन्द से विभोर होकर कह उठे, "यह तो द्वारकाधीश की प्रसादी माला है! जय प्रभु रणछोड़ जी की जय,

जय भक्त नरसी मेहता की जय।" काराकक्ष के बाहर खड़ी जनता तब तक आनन्द से विह्वल हो उठी है।

कुछ दिन बाद की बात। जूनागढ़ का एक बड़ा बनिया नरसी मेहता के समक्ष भागता हुआ आकर उपस्थित हुआ। व्यग्र स्वर में इसने कहा, 'मेहता जी, एक बड़े संकट में पड़ कर आपकी शरण आया हूँ। आपको मेरा उद्धार करना ही होगा।"

"मैं तो संकटत्राता नहीं हूँ भाई, त्राता तो मेरे रणछोड़ जो हो हैं। फिर भी आप क्यों इतते चंचल हो रहे हैं, यह तो बतायें।"

"सारी बातें आपसे स्पष्ट कह रहा हूँ। बेट-द्वारका बन्दर के एक बड़े सेठ को मुझे कई हजार स्वर्ण मुद्राएँ देनी है। जो समय निर्धारित था, उससे पहले ही देनी होगी। परन्तु इस समय राज्य के सीमान्त पर बेट द्वारका के रास्ते में बहुत लड़ाई-झगड़ा चल रहा है। इस समय इतनी स्वर्ण मुद्राएँ साथ लेकर जाना युक्तिसंगत नहीं है। मैं चाहता यही हूं कि यहीं यह द्रव्य किसी तहबील में जमा कर दूँ, और द्वारका पहुँच कर उसके किसी स्थानीय प्रतिनिधि से उसे वापस ले लूं। द्वारका से बेट द्वारका का बन्दर नजदीक ही है और वहां से लेन-देन करने में कोई असुविधा नहीं होगी।

"फिर मेरे माध्यम से तुम्हारे इस कार्य में क्या सहायता हो सकेगा?" नरसी ने प्रश्न किया।

"आप ही तो एक मात्र व्यक्ति हैं जो मेरा यह कार्य संपन्न कर सकते हैं।"

"मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, आप स्पष्ट बताने का कष्ट करें।"

"मेरा कार्य किस तरह सिद्ध होगा, यह मैं आपको बताता हूं। नरसी मेहत्ता, सभी जानते हैं कि द्वारकाधीश रणछोड़जी

आपके परम बंधु हैं। आपकी कोई प्रार्थना पूर्ण करने को वे सदा प्रस्तुत रहते हैं। बताइये मेरी बात सही है, या नही ?"

"हाँ, यह बात तो सत्य है कि वे मेरे प्राणप्रभु, प्राणबंधु हैं, इसमें क्या संदेह ?"—मुस्कुराते हुए भक्त प्रवर ने उत्तर दिया।

"इतना होने पर मेरा कार्य बहुत सरल हो गया। मेरा प्रस्ताव यह है कि मैं आपके पास पाँच हजार स्वर्ण मुद्राएँ जमा कर देता हूँ। उसके लिए एक चिट पर स्वीकृतिपत्र लिख दें कि मेरे द्वारका पहुँचने पर आप के बन्धु द्वारकाधीश विग्रह इतनी ही स्वर्ण मुद्राएँ दे देंगे। इतना होंने से ही मेरा कार्य अच्छी तरह संपन्न हो जायगा। अन्यथा मेरा व्यवसाय एकदम समाप्त हो जायगा।"

प्रस्ताव सुनकर तो नरसी मेहता विस्मय से अवाक रह गये। यह फिर कैसी रहस्यमय बात है। जो जगत्स्रष्टा तथा जगतपति हैं, वे क्या अंततः बनिये के साथ हुण्डी पर रुपयों का लेन-देन करेंगे ?

बनिये ने नरसी को और कोई बात कहने का अवकाश ही नहीं दिया। हाथ जोड़ कर उसने कहा, "मेहताजी, इस व्यवस्था के अलावा मेरे कारबार की रक्षा का कोई उपाय नहीं है। मैं आप का शरणागत तथा आश्रित हूँ। मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रभु कृष्ण जी आपकी मर्यादा के रक्षार्थ इस अनुरोध की रक्षा करेंगे।

नरसी के कुछ कहने से पहले ही बणिक ने अपनी स्वर्ण मुद्राओं की थैली उनके हाथों में पकड़ा दी और द्रुत वेग से द्वारका की ओर प्रस्थान किया।

कहा जाता है, इस वणिक के द्वारका पहुँचते ही एक श्यामल किशोर ने आग्रहपूर्वक उसके साथ साक्षात्कार किया और कहा, "भाई, तुम क्या हमारे नरसी के बंधु हो ? स्वर्ण मुद्रा की थैली के लिए ही तो तुम अपेक्षमान हो। यह लो, नरसी के पास जो तुमने दिया था, वह सुरक्षित रूप से यहाँ पर है।"

जन श्रुति है कि परम कारुणिक प्रभु ने उस दिन अपने शरणागत की मान-रक्षा की थी और भक्तिसिद्ध नरसी की ख्याति को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित किया था।

गुजरात की भक्त मण्डली के मध्य, महापुरुष नरसी मेहता दीर्घकाल तक विराजमान थे और इस काल में उनकी धर्मसभा तथा कीर्तन गोष्ठियों का प्रभाव एवं उनसे भक्ति-रसात्मक पद सारे राज्य में चारों तरफ व्याप्त हो गये थे।

अस्सी वर्षों की लम्बी अवधि तक नरसी जीवित थे, एवं अंतिम दिनों में उनपर कई शोक के आघात लगे थे। इसी अवधि में पत्नी मानिक बाई तथा पुत्र श्यामल का देहान्त हो गया। परन्तु यह आश्चर्य की ही बात थी कि ये मर्मभेदी आघात भय-क्रोध से वीतराग महात्मा को जरा भी विचलित नहीं कर पाये। बल्कि शोक में जो लोग उनको सांत्वना देने आते, उन्हीं को वे समझाते, "जानते हो, इन आघातों के ही माध्यम से भगवान भक्त की परीक्षा लेते हैं। इन्ही आघातों से ही अंहबोध का प्रासाद ध्वस्त होता है—तथा प्रभु और आश्रित एकाकार हो जाते है।"

साध्वी स्त्री मानिक बाई से वियोग होने पर, अपने हाथों से उन्हें चिता में समर्पित करने के बाद नरसी मेहता ने कृष्ण-स्तुति के एक अपूर्व पद की रचना की थी। कृष्ण-रसावेश में उन्मत्त होकर भक्तगणों के साथ वे सारी रात उसी पद का गान करते रहे।

उनके पुत्र श्यामल की भी अकाल मृत्यु हो गयी और उसके बाद ही एक बड़ा दुर्दैव घटित हुआ। कन्या कुंवर बाई को भी वैधव्य का निर्मम आघात झेलना पड़ा। एक-के-बाद एक इन प्रचण्ड आघातों से भी महासाधक नरसी की मनोभावना तनिक भी विचलित नहीं हुई।

अन्तरंग भक्तों ने एक दिन उनसे प्रश्न किया, "प्रभु, आप

कृष्ण के बिल्कुल अपने हैं। आप के ऊपर क्यों दैव के ऐसे निष्ठुर आघात ?"

"बताया तो, ये आघात नहीं, वरन् ये तो प्राणप्रभु की परीक्षा है। जिसको उन्होंने भजन-साधन दिया है, तथा सिद्धियाँ दी हैं, उसी के पास तो परीक्षा देने की क्षमता है। कृष्ण ने कृपा करके इस जीवन में कुछ दिया है, तभी तो इस तरह से परीक्षा ले रहे हैं।"—महात्मा नरसी ने शांत स्वर में उत्तर दिया।

उन से फिर प्रश्न हुआ, 'कितना आश्चर्य है। आत्म-परिजन की मृत्यु और इस विरह-व्यथा से भी आपके नेत्रों में शोकाश्रु की एक बूँद भी नहीं। आपका ऐसा अद्भुत आचरण क्यों ?"

"भाई, कृष्ण ने मुझे जिस तरह से तैयार किया है उसमें मैं इस आचरण के आलावा और कर ही क्या सकता हूँ ? कृष्ण-कृपा की मैंने दिन-रात उपलब्धि की है। मेरी सारी सत्ता, मेरे आत्म-परिजन, बंधु-बान्धव, सभी कृष्ण से ही उद्भुत हुए हैं और फिर उन्हीं कृष्ण में ही मिल गये हैं। फिर मेरे लिए क्षोभ कैसा, निरानंद कैसा ? मेरा जगत् कृष्ण मय है—उससे बाहर तो कुछ भी नहीं !"

अस्सी वर्षों की अवस्था में एक दिन नरसी मेहता ने अपने अंतरंग भक्तों को निकट बुलाया। कहा, "मेरे तिरोधानका निर्दिष्ट लग्न समागत है। तुम सभी इस अंतिम समय में हृदय से मेरे साथ गाओ—

—विश्व प्रपंच के स्तर-स्तर पर
जो कुछ सुख और आनंद,
सभी है अलीक, सभी छायामय।
मेरे प्राणप्रभु कृष्ण जी के बिना
सभी हैं क्षणस्थायी—बुद्बुद् सदृश।

स्वरचित पद के संगीत का श्रवण करते-करते, भावावेश में महापुरुष के दोनों नेत्र मुँद गये, और उन्होंने सर्वदा के लिए धरा-धाम का त्याग कर दिया। भजन-मत्त अंतरंग शिष्यों एवं भक्तों के जीवन में एक दु सह शोक की कृष्ण छाया छा गई।

●

गोस्वामी तुलसीदास

आकाश में उस समय बादल भर आये थे। साँझ की अँधियाली भी उतर रही थी। तुलसीदास द्विवेदी बड़े चिन्तित हो उठे। यजमान के घर के काम से इतनी दूर चले आये हैं। देर भी तो बहुत हो गई है। अब तक अपने गाँव राजापुर को नहीं लौट सके। उतावले पैरों से उस तरफ को अब चल पड़े हैं, बिल्कुल छुटे तीर की तरह।

घर लौटकर देखा कि पत्नी घर में नहीं हैं। यह क्या हुआ? ऐसे असमय में तो रत्नावली को कहीं जाना नहीं था! घर-आँगन में तिल-तिल ढूँढकर, तुलसी, पड़ोस के घर में पत्नी की टोह लेने पहुँच गये। वहाँ पता चला कि ससुर महाशय की अन्तिम घड़ी आ चली है—ऐसा संवाद पाकर, रत्नावली आनन-फानन नैहर चली गयी है।

बचपन में ही तुलसी मातृ-पितृहीन हो गये थे। सच पूछिये तो रत्ना को छोड़ कर अपना कहा जानेवाला कोई नहीं है। इन दिनों सूने संसार में यह पत्नी ही उनके लिए सर्वस्व बन बैठी

है; उसे आँखों से ओट करना तुलसी के अत्यन्त कठिन हो गया है।

उनकी पत्नी है भी परम रूप-लावण्यमयी; गुणों की भी कमी नहीं। सारा मन-प्राण उड़ेलकर तुलसी उसपर निछावर हैं। उसे केन्द्र बनाकर ही तुलसी का जीवन भाँवरे भर रहा है।

विवाह के बाद, बार-बार, रत्ना को लिवा जाने की खातिर नैहर से बुलावा आता रहा। किन्तु तुलसी के लिए यह संभव नहीं हुआ कि पत्नी को नैहर भेजकर वे उसके वियोग की असह्य वेदना सहने की खातिर, अपने को किसी भी कीमत पर राजी कर सकें। टोले-मोहल्ले के लोग इसी कारण, उन्हें स्त्रैण, मोहान्ध इत्यादि कहकर निन्दित करते। किन्तु तुलसी ने ऐसी गालियों की कोई परवाह कभी न की।

रत्ना यदि आज ही नैहर जाने के लिए अमादा थी, तो भी क्या वह तुलसी के घर लौट आने तक रुक कर इन्तजार नहीं कर सकती थी? पत्नी के इस छलमय उपेक्षा भाव को याद कर, उनका कलेजा रह-रहकर फटने लगा।

उसके पिता की हालत खराब है। पता नहीं, उसे कब तक नैहर में ही रह जाना पड़े। तुलसी के हृदय में अधीरता का भाव उन्माद बनकर जग पड़ा।

वर्षा के झकोरों का वेग और भी प्रबल हो उठा है। पर इसकी पर्वाह किये बिना ही, तुलसी घर से उसी असमय में बाहर निकल पड़े। उनके शरीर पर धोती के अतिरिक्त कोई दूसरा वस्त्र तक नहीं है।

आँधी-पानी के महाताण्डव का जैसे कोई भान ही नहीं रह गया है उन्हें। आसमान की छाती चीरकर नागिन की तरह गरजती बिजली रह-रहकर कौंध उठती है। वज्रपात का तुमुल-नाद कान फाड़ रहा है। गड़गड़ाकर बरसनेवाली मूसलाधार

वृष्टि ने पेड़-पौधों को तोड़ गिराया है। तुलसी का अपना शरीर भी क्षत-विक्षत हो रहा है। पर उन्हें होश नहीं। वृष्टि की मत्तता आज स्वयं उनके अन्तर में ही पैठी हुई है।

भींगी देह, फटे वस्त्र के साथ उद्भ्रान्त की भाँति वे ससुराल आ पहुँचे। इस प्रकार अचानक उनका उस अवस्था में उपस्थित हो जाना सब को विस्मित कर रहा है। स्त्रैण स्वामी ने यह कैसी अकारण उन्मत्तता की? लज्जा, क्षोभ और दुःख के मारे रत्ना तो जैसे मिट्टी में गड़ गई। श्लेष और विद्रूप-वर्षण करने की नीयत से कुटुम्बी दल भी तुलसी को घेर कर खड़ा हो गया।

रत्ना की बड़ी-बड़ी आँखें क्रोध से जल उठीं। पागलपन की भी तो कोई सीमा होती है। यह क्या कर डाला? नहीं, मुझसे अब नहीं सहा जाएगा। कठोर स्वर में उसने स्वामी की भर्त्सना की :—'सुनो, अब में ठीक-ठीक समझ रही हूँ कि मेरे प्रति तुम्हारा यह आकर्षण निरे मोह के कारण है, प्रेम के कारण नहीं। इस हाड़-माँस की देह के पीछे जिस तरह पड़े हो, आज तक इसमें जैसा अनुराग दिखाते रहे हो, यदि वही भगवान रामचन्द्र के चरणों के प्रति होता, तो उद्धार पा जाते, सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जातीं! आज से, अपनी इस उन्मत्तता से, मेरी जान बरी कर दो। मुझे तुम छुटकारा दे दो।'

आह, रत्ना का यह आघात अति अतर्कित और अत्यन्त तीव्र है। इस आघात ने निमेष मात्र में तुलसी को निस्तेज कर डाला है। धीर गति से, मोहाविष्ट की भाँति, पदक्षेप करते वे राह पर आकर खड़े हो गए। उधर रत्ना ने तेज आवाज के साथ घर का दरवाजा बन्द कर लिया।

तुलसी के सामने उस दिन बाहर का दरवाजा यदि बन्द हो गया, तो भीतर का दरवाजा अकस्मात् खुल भी गया। उनके जीवन का महालग्न उसी दिन उपस्थित हुआ। तभी तो रत्नावली

द्वारा किये गये उस अपमान से चैतन्यमयता फूट पड़ी। तुलसी ने दुःसह वेदना पाकर आँखें मूँद लीं। वे आज जीवन के केन्द्र से टूटकर गिर पड़े हैं; सहसा निराश्रित हो गये हैं। अकस्मात् उनके मानस-लोक में, उसी समय, भासित हो उठी नव दूर्वा-दल-श्यामल श्रीरघुनाथ की मूर्त्ति। अपने हाथ का सहारा देकर यह मूर्त्ति उन्हें उठाकर कहाँ ले जाना चाहती है?

पथ ज्ञात नहीं, पर तुलसीदास को घर छोड़कर, पथ पर, बाहर आ जाना पड़ा। अन्तरात्मा की पुकार आ गई है, अब उसे अनसुनी करने का कोई उपाय नहीं।

ससुराल से इस तरह निकाले जाने पर, वे द्रुतदों से आगे चल पड़े। अनुतप्ता पत्नी की क्षीण कण्ठ-ध्वनि अब तक सुनाई पड़ती थी। किन्तु अब तो वापस लौटा नहीं जा सकता। वनों और पहाड़ों को लाँघते हुए वे गाँव के बाहर खड़े हुए।

यही गृही-त्यागी युवक, जीवन के उत्तर काल में गोस्वामी तुलसीदास के नाम से विख्यात हुए। उत्तर भारत के श्रेष्ठ भक्त कवि के रूप में लक्ष-लक्ष मामवों के जीवन-मूल में उन्होंने रामनाम की जो रस-धारा बहाई, समाज की हर सतह में उसने भक्ति प्रवाह की वेगवती सदानीरा का रूप धारण कर लिया।

तुलसी का समग्र आध्यात्मिक जीवन जैसे पवित्र तुलसी-तरु का एक विशेष रूपान्तर बन गया। इस महासाधक का यह कल्याण मय रूप, समसामयिक काल के वेदान्ती श्रीमधुसूदन सरस्वति के इस श्लोक में उद्भासित मिलता है:

'आनन्दकाननेह्यस्मिन जङ्गमः तुलसी-तरुः
कविता-मञ्जरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता।'

—वाराणसी के आनन्द-कानन में तुलसीदास हैं तुलसी के एक चलते-फिरते तरु। इस तरु की कविता-मञ्जरी राम-रूपी भौंरे से भूषित है!

राम-भक्ति का रसामृत तुलसी अकृपण भाव से बाँटते रहे। इसके साथ ही प्रशस्ति की है उन्होंने कलिरूप वृक्ष के विनाशकारी कुठार, रामनाम की शक्ति की—कलि-विटप-कुठारी। भाव के ऐश्वर्य, भाषा के लालित्य में पगी राम-राज्य-वर्णना को उन्होंने अविस्मरणीय बना दिया है। धर्मराज्य और रामराज्य की जो वाणी तुलसी भारत के आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रचारित कर गये, चार सौ वर्ष बाद इस देश के राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी को उसी आदर्श की स्थापना करते देखा गया।

महासाधक तुलसीदास ने रघुनाथजी की साधना की। साधना की सिद्धि भी उन्हें प्राप्त हुई। नाना अलौकिक योग-विभूतियाँ उन्हें सहज ही हस्तगत हुईं। इसके बाद रामनाम के प्रचार का आदेश पाकर, वे उन दिनों उसी उद्देश्य के व्रती बने घूमते रहे।

प्रयाग के निकट बाँदा जिले में राजापुर नामक एक गाँव है। कहते हैं कि वहीं १५४५ ख्रिष्टाब्द में उनका जन्म हुआ था।

उनके पिता थे पं० आत्माराम द्विवेदी और माता थीं हुलसी देवी। द्विवेदी महाशय थे पराशर गोत्र के ब्राह्मण। धर्मप्राण और सुपण्डित के रूप में उनकी उस अञ्चल में ख्याति थी।

स्वरचित सवैये में तुलसीदास ने स्वयं लिखा है—'मातु-पिता जग जाय तज्यो'। अर्थात्, उनके जन्म के कुछ ही काल बाद माता-पिता परलोकवासी हुए; इतना ही नहीं हुआ, उनका बचपन प्रधानतः दुःख कष्ट और अवहेलना के बीच ही बीता। यह खेद उनके गीतों और कविताओं में प्रायः प्रकट हुआ है।

माता और पिता, दोनों की मृत्यु के बाद, पिता के गुरु नरहरिदास के आश्रय में इनका पालन हुआ। कहते हैं कि इस प्रियदर्शन निराश्रय बालक पर उस वृद्ध महापुरुष की स्नेह-दृष्टि पड़ी और उन्होंने पुत्रवत् इनका लालन-पालन किया। बालक की शिक्षा-दीक्षा शास्त्राध्ययन प्रभृति उन्हीं की देख-रेख में सम्पन्न हुआ।

उम्र की दृष्टि से सयाने हो जाने के बाद भी तुलसीदास जब तक गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट नहीं हुए, तब तक बाबा नरहरि दास निश्चित नहीं हो सके। तोड़-जोड़ कर, उन्होंने ही इनका विवाह भी कराया।

कुछ ही गाँवों के बाद रहते थे श्री दीनबन्धु पाठक। सज्जन और धार्मिक पुरुष के रूप में लोग उन्हें जानते-मानते थे। इन्हीं ब्राह्मण की सुलक्षणा कन्या थी रत्नावली, जो तुलसीदास की पत्नी होकर उनके घर आई।

किशोरी रत्ना के रूप की कोई तुलना नहीं थी और वैसा ही मधुर था उसका स्वभाव। तुलसी के जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण वही बन बैठी थी।

बचपन से ही तुलसी बड़े भाव-प्रवण थे। काव्य में उनका असाधारण अनुराग था। रत्ना के रूपमोह और रत्ना के स्नेह ने उन्हें सहज ही बाँध रक्खा था। एक मुहुर्त के लिए भी रत्ना को देखें बिना उन्हें चैन नहीं। उसी रत्ना ने तो आज उन्हें ऐसी मर्म-विदारक चोट पहुँचाई।

पर इसी चोट ने आज तुलसी को पहले-पहल चैतन्य दिया है और उसे परम प्राप्ति के पथ पर ढकेल कर आगे बढ़ा दिया है।

जिसका कोई आश्रय नहीं, उसके आश्रय हैं श्री रघुबीर—श्रीरघुवीरजी की प्रेमधन मूर्त्ति। तुलसी के अन्तर में यह भाव एकबारगी कौंध उठा। जीवन के द्वार पर चरम आह्वान आ गया है। पागल की तरह घर से निकल कर तुलसीदास बाहर निकल पड़े। कहाँ जायँगे, कौन इन्हें इष्ट-लाभ का मार्ग बता देगा, कुछ भी तो नहीं जानते। पर बचपन से ही सुनते आ रहे हैं। वाराणसी भारत का प्राण-केन्द्र है अनेक साधकों और आचार्यों की वास-भूमि। इसी ओर उन्होंने पाँव बढ़ाये। हृदय में था मुक्ति का संकल्प और

मुख में राय-नाम का जप। गृह-त्याग का यही पाथेय उन्हें वाराणसी की ओर ले उड़ा।

आकाश में प्रकृति का ताण्डव तब तक थम चुका था। तुलसी के जीवन में विक्षोभ के स्थान पर परम शान्ति आ चकी थी। लम्बी राह से गुजर कर अनेक कष्ट भोगते वे काशी आ पहुँचे। उस समय उनके कण्ठ में इष्ट का नाम निरन्तर गुंजन आप ही ध्वनित हो चला था।

आश्रम मिलते बहुत देर नहीं लगी। विख्यात शास्त्रविद् सनातन दास की दृष्टि इस भक्त, सर्वत्यागी, युवक पर आ पड़ी। परम स्नेह के साथ आचार्य ने इन्हें चटसार में स्थान दे दिया।

यहाँ आकर तुलसीदास शास्त्र अध्ययन में लग गये, साथ-साथ ही चलता रहा ईष्टदेव का नाम-कीर्त्तन और लीला-विवरण का पाठ। इस 'टोल' चटसार में दिग-दिगन्तर से आये छात्रों की भीड़ लगी हा रहती।

साधन-भजन के लिए जिस निभृत एकान्त की आवश्यकता होती है, उसका सर्वथा अभाव था। अन्ततः तुलसी ने नगर-प्रान्त के एक जंगल में जाकर आश्रय लिया।

दैहिक सुख-दुख अशन-वसन की ओर उनका ध्यान नहीं। एकान्त निष्ठा के साथ दैन्यभाव में लिपटे, तुलसी लग गये हैं साधना में। किन्तु कहाँ है पथ? कहाँ है प्रकाश? परम प्रभु के दर्शन क्या करनें से मिलेंगे? चिन्ता के मारे वे अधीर हो उठते हैं।

अगली सुबह अपने भजन-कुटीर से थोड़ी ही दूर पर, वे एक झाड़ की आड़ में शौचादि से निबटने जाते हैं। पास ही है एक पेड़ जिसकी जड़ में वे शौच से अवशिष्ट जल डाल दिया करते हैं। उसका व्यक्तिक्रम नहीं होता। यह जैसे उनके नित्य का अभ्यास बन गया है।

भले ही तुलसी को पता नहीं हो, पर उस पेड़ पर रहता है एक ब्रह्म-पिशाच। तुलसीदास के द्वारा रोजाना दिये जानेवाले उस जल से उसकी प्यास बुझा करती है। उस दिन गहरी रात में, सहसा, वह तुलसी के आमने-सामने प्रकट हो गया। बोला— 'तुलसी' मैं तुम पर अतीव प्रसन्न हुआ हूँ। इस वृक्ष की जड़ में तुम जो जल प्रतिदिन डाल दिया करते हो उसे पीकर मैं तृप्त हो जाता हूँ। मैं तुम्हारा कौन-सा उपकार कर दूं, बताओ।'

तुलसी विनीत स्वर में बोले, 'सूक्ष्म लोक में विचरण करनेवाले, किसी भी योनि के व्यक्ति आप क्यों न होवें, मैं आपको प्रणाम निवेदित करता हूँ। आप यदि मेरा कोई उपकार सचमुच करना चाहते हैं तो वर दीजिये कि मैं अपने इष्ट का लाभ कर लूं।'

प्रेत ठठा कर हँस पड़ा—'वाह, भाई वाह ! यदि मुझमें इतनी शक्ति होती ही तो खुद यह दुर्भोग क्यों भोगता रहता ? यह तो मेरे वश की बात नहीं है। हाँ, इतना जरूर हो सकता है कि तुम्हें तुम्हारे रघुनाथ से मिला सकनेवाले पथ-प्रदर्शक का पता मैं बता दूं।'

तुलसी ने अति विनय के साथ वह पता जानना चाहा।

ब्रह्म-पिशाच ने बताया : 'काशी के दशाश्वमेध घाट से थोड़ा ही उत्तर हटकर इन दिनों नित्य रामायण की कथा हो रही है। श्रोताओं की उस सभा के एक कोने में देखोगे कि एक जरा-जीर्ण वृद्ध ब्राह्मण नीरव निश्चल होकर दुबके बैठे हैं। वे उस रामायणी कथा का नित्य श्रवण करने अकेले आते हैं और कथा-समाप्ति के बाद अकेले चले जाते हैं। रामायण सभा में वे सबसे पहले प्रवेश करते और सबके चले जाने के बाद जाते हैं। वे ही तुम्हारे इष्ट का तुम्हें संधान दे सकते हैं।'

तुलसीदास विस्मित होकर यह सब कहनेवाले की ओर केवल एकटक देखते रहे।

वह प्रेत किंचित् मुस्कुराकर फिर कहने लगा : 'तुलसी, लो सुन लो, छद्मवेशी वृद्ध कोई और नहीं, वे ही हैं भक्तराज पवनदेव हनुमान। उनके शरणागत हो जाओ, तभी श्रीरामचन्द्र तुम्हें दर्शन देंगे।"

रामयणी कथा का निर्दिष्ट सभाभूमि में पहुँचकर उस दिन तुलसी ने देखा सच ही तो, सब-कुछ वैसा ही हैं, जैसा कि उस प्रेत ने बताया था। सभा के एक कोने में एक वृद्ध सज्जन भक्ति-भाव में निमग्न बैठे हैं समाहित चित्त के साथ रामायण की कथा सुनते हुए।

पाठ और भजन की समाप्ति हुई। सभा-स्थल लगभग जन-शून्य हो चला था। सब के बाद उस वृद्ध को सभा-स्थल से बाहर जाते तुलसी ने देखा। तुलसी उनके पीछे लगे चले और दूर जाकर, एक निभृत स्थान में उनके सामने जाकर खड़े हो गये। परम भाव में मग्न होकर तुलसी फूट-फूट कर रोने लगे। उनके आर्त्त क्रन्दन का उस दिन जैसे अन्त ही नहीं था। भक्तराज हनुमान करुणा-द्रवित होकर अन्ततः अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए। तुलसी के मस्तक पर उनकी कृपा-धारा बरसने लगी।

भक्तवीर हनुमान ही तो प्रभु श्री रघुनाथजी के कृपा-द्वार के अधिकारी हैं। साधक तुलसीदास का भाग्य सचमुच बढ़ा है। सद्गुरु के रूप में वे ही उन्हें आगे चलकर प्राप्त हुए।

तुलसी के श्रद्धालु भक्तों का कहना है कि मानव-शरीर धारण कर स्वयं हनुमान ही तुलसी को साधन-मार्ग का संकेत दे जाया करते थे। उनके अनुसार इसी तथ्य की ओर तुलसीदासजी ने इशारा किया है—

'बन्दौं गुरुपद-कंज, कृपा-सिंध नर-रूप हरि'

भक्त तुलसीदास की ध्यान-कल्पना में भक्तराज अञ्जना तनय श्री हनुमान शैव-शक्ति के भी एक मूर्त्त विग्रह हैं। उनके अनुसार

स्वयं महेश्वर ने ही रामनाम-कीर्त्तन के लोभ से महावीर हनुमान का रूप धारण कर लिया है।

सूक्ष्मलोकचारी हनुमानजी का आशीर्वाद तुलसी के जीवन का परम ऐश्वर्य हो गया। इतना ही नहीं, तुलसी के साधन-जीवन के प्रत्येक प्रयोजन में उन्हीं का मंगलमय आविर्भाव देखा जाता और वे कृपा-पूर्वक अनेक समस्याओं का समाधान कर जाते। तुलसीदास ने लिखा है—

'धीर-वीर रघुवीर-प्रिय, सुधी समीर-कुमार
अगम-सुगम सब काज करि, करतल सिद्धि विचार'

अर्थात्, रघुवीर जी के प्रियपात्र, धीर-वीर पवनकुमार श्री हनुमानजी का ध्यान करो तो सर्व साधना और सर्व सिद्धि करतल गत हो जाती हैं।

मास पर मास बीतते चले जा रहे हैं। किन्तु तुलसी ने जिसके निमित्त सब-कुछ का त्याग कर दिया है, वह कहाँ है? इष्ट का साक्षात्कार तो वे अब तक नहीं कर पाये हैं। धीरे-धीरे उनकी व्यग्रता बढ़ती ही चली जा रही है।

छद्मवेशी महावीरजी को एक दिन भक्त तुलसी ने किसी तरह नही छोड़ा। रघुनाथजी के दर्शन यदि वे नहीं करा देते तो उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। वे उनके पीछे लगे लम्बी राह पर चलते ही गये।

महावीरजी के मुख पर अन्ततः रहस्यमय मुस्कान खिल उठी। उन्होंने कहा : 'वत्स, अब मेरा पीछा छोड़ लौट जाओ। परसों रामनवमी की पवित्र तिथि है। उस दिन अपनी कुटिया में बैठे-बैठे ही तुम्हें प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन मिल जायँगे।

रामनवमी की तिथि आ चुकी है। तुलसी बड़ी देर से उस सौभाग्य की व्याकुल प्रतीक्षा कर रहे हैं। किन्तु प्रभु के दर्शन तो नहीं हुए अब तक। तो क्या महावीरजी की वाणी व्यर्थ हो

जायगी ? या तुलसी की प्रतीक्षा में ही कोई त्रुटि है ? प्रभु ने अब तक दर्शन देने की कृपा क्यों नहीं की ?

अकस्मात् पास ही कहीं कोलाहल सुनाई पड़ा। तुलसी बाहर निकल कर उसकी टोह लेने के खातिर आ खड़े हुए। एक बंजारा, बंजारिन के साथ, बंदर का नाच दिखाने आया है। उनके पीछे कंधे से झोली लटकाये खड़ा है एक प्रियदर्शन तरुण। गोस्वामी जी को खेल दिखाये बिना वे नहीं टलेंगे।

यह कहाँ की आफत आ पड़ी ! सारा दिन प्रतीक्षा और उत्कण्ठा में बीत गया। राम के दर्शन तो क्या होते, अब इन बंजारों की टोली के पालतू बंदर का नाच देखना पड़ेगा ! खीझ के मारे तुलसी झुँझला उठे उन्होंने बिगड़ते हुए कहा : 'जाओ, भागो यहाँ से। मैं नाच नहीं देखता।' ऐसा कहकर उन्होंने दरवाजा बन्द कर लिया।

भीतर ही भीतर वे वेदना से फटे जा रहे थे। अवश्य ही वे अत्यन्त नीच हैं, नहीं तो महावीर जी की बात झूठ क्या हो जाती।

उस दिन रामायण - पाठ बीच में ही छोड़कर तुलसी पहुँचे उन्हीं छद्‌भवेशी मारुती भगवान् के पास। आज वे उन्हें छोड़ने वाले नहीं। महावीरजी ने कहा : क्या बात है, तुलसी। स्वयं भगवान श्रीरामचन्द्र, श्री लक्ष्मण, माँ जानकी और मैं सभी तो गये थे तेरे पास। प्रमाण चाहते हो तो देख लो अभी तक मेरे गले में बँधी रस्सी का दाग लगा है। बंजारों के दल को भी तुम नहीं पहचानते तो ज्योतिर्मय दर्शन करना तो तेरी सामर्थ्य के और भी बाहर है, तुलसी ! तेरी सामर्थ्य की सीमा का ख्याल करते हुए कृपामय प्रभु ने इस छद्‌मवेश में ही तुम्हें दर्शन-दान दिया है। अब तुम डूब जाओ, साधना को गंभीरता में। परम प्रभु के चिन्मय राज्य में प्रवेश करो तुम ! मैं द्वार उमुन्क्त किये दे रहा हूँ।'

नाम-जप और कठोर तपस्या में तुलसी निमग्न हो चले। इसके साथ-साथ चलती रही कातर प्रार्थना और भजन गान। एक-एक दिन व्यर्थता का एहसास करते बीतने लगा। तुलसी की आँखों से अविरल आँसू बरसते रहते। आर्त्त स्वर में अपने प्रभु से कहते—

सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु
उपल किये जल-यान जिहिं, सचिव सुमति कपि भालु

अर्थात्, हे कृपालु राम, मेरी तरह के शठ सेवक के प्रति भी तुम रखोगे ही अगाध प्रीति। प्रभो, आप की शक्ति की सीमा नहीं है। तुम्हारे लिये असाध्य क्या है भला? तुमने पत्थर को नौका की तरह तैराकर समुद्र पर सेतु की रचना की और बन्दर-भालुओं को बना लिया अपना सुचतुर मन्त्री। फिर कैसे नहीं करोगे मेरे जैसे अपात्र के प्रति अपार करुणा? बोलो प्रभो!

कठोर तपस्या कर तुलसी अब नाम-सिद्ध हो चुके हैं। उनके देह-मन-प्राण में, सम्पूर्ण अस्तित्व में, अविराम फिर रही है, राम-नाम की माला। राम-नाम के आलोक में दीप्त हो गई है, उनकी समग्र साधन-सत्ता। इस आलोक का जयगीत उनके गान में स्पष्ट सुना जा सकता है:—

राम नाम मणि-दीप धरु, जीह देहरी द्वार
तुलसी भीतर बाहरहुँ, जो चाहसि उजियार

—घर और बाहर की देहली के बीच जैसे घर का दरवाजा है, कुछ वैसी ही स्थिति है अन्तर और बाहर की संधिभूमि जीभ की। झोंके-पानी से न बुझनेवाले मणि-दीप की भाँति तुलसी की जीभ पर 'राम' का नाम निरंतर जल रहा है। जो कोई भी घर और बाहर को एक ही दीपक से प्रकाशित करना चाहेगा, उसे देहली-द्वार पर उस दीपक को रख देना होगा, अन्तर वाह्य को एक साथ उजागर करने के निमित्त। उसी तरह तुलसी ने राम-नाम का दीप अपनी जीभ पर अनवरत जलाये रक्खा है।

साधना की इस तीव्रता को देखकर श्रीमहावीरजी प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, "तुलसी, अब तुम चित्रकूट चले जाओ—श्रीराम की अवतार लीला का प्रारम्भ हुआ उसी पर्वताञ्चल से। वहाँ का चप्पा-चप्पा उनके चरणों के स्पर्श से पवित्र है। वहाँ का परिवेश भी साधना के अनुकूल है। वहाँ ठहर कर तुम कुछ दिनों तक तपस्या करो। पद्मलोचन भगवान् श्रीराम तुम्हे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे।

उसबार सूर्य-ग्रहण का मेला लगा था। चित्रकूट में अगणित साधु-सन्तों का समागम है। राम-नाम के कीर्त्तन और रामायणी कथा के अनवरत पारायण से संपूर्ण वातावरण मुखरित हो उठा है।

तुलसीदास पहाड़ के एक कोने में एक छोटी-सी मामूली कुटिया बनाकर, मनचाही प्रसन्नता के वातावरण में, कुछ दिनों से निवास कर रहे हैं।

कुछ दिनों के बाद मेला उठ गया। अब जनशून्य हो गई है चित्रकूट की वनस्थली। तुलसीदास ने स्वभावतः एकान्त निष्ठा के साथ अपनी कठोर तपस्या का कठोरतर रूप में आरंभ कर दिया है।

निर्झर के जल में भोर ही स्नान कर वे नित्य भजन में बैठ जाते हैं। पूरा दिन बीत जाने पर अरण्य वृक्षों के एकाध्र फल से उनकी क्षुधा-निवृत्ति होती है।

एक दिन प्रातःकाल, अपनी संकल्पित पूजा में तुलसीदास जी-जान से लगे हैं। झोले से श्रीखंड चन्दन का एकमात्र अवशिष्ट खण्ड निकाल कर उसे शिला पर जल के साथ घिस रहे हैं। अचानक जानें कहाँ से आकर एक प्रिय-दर्शन बालक उनके सामने खड़ा हो गया।

इस सुन्दर, सुडौल, साँवले बालक के प्रत्यंग से लावण्य की

अपूर्व छटा छिटक रही है। उसके शिरपर जटाएँ बँधी हैं और वस्त्र के नाम पर, वह वल्कल मात्र धारण किये हुए है। उसकी आयत आँखों में अलौकिक दिव्य ज्योति है और घुटने तक लंबे हाथों में है, एक छोटा-सा धनुष !

लगता है यह नटखट बालक गहन अरण्य में चिड़ियों का शिकार करने आया था। उसे अपने सामने खड़ा देखकर तुलसीदास असमंजस में पड़ गये। नटखट बालक की ढिठाई की और भी सीमा नहीं। वह जैसे उपद्रव करने के लिए आमादा होकर ही आया है। तुलसीदास को उसने शोख की तरह कहा, 'बाबा, अपने हाथों मेरे ललाट पर चन्दन का एक टीका भी तो लगा दो। देखते नहीं, मैं तुम्हारे सामने इसी के लिए कब से खड़ा हूँ ?'

तुलसी मन-ही-मन झुंझला उठे, इष्टदेवता के निमित्त उन्होंने जो चंदन घिसा है, इस नटखट ने उसी में डीठ लगा दी। इस अनर्थ का भी कोई जवाब है !

अकस्मात् तुलसी के अन्तश्चक्षु के सामने रामनवमी की उस घटना की याद कौंध उठी, जब लीलामय प्रभु ने बंजारे के वेश में दर्शन देना चाहा था। छलना की उस कथा के प्रसंग में भक्तराज श्री महावीर जी के आशीर्वचन और आश्वासन की याद भी स्वभावतः आई। तुलसी को रोमांच हो आया। भावाविष्ट साधक ने आनंदमय बेहोशी की निमग्नावस्था में उस धनुर्धारी प्रियदर्शन बालक के ललाट पर चंदन का टीका लगा दिया। जब जाकर कंपित कंठ से प्रश्न हुआ :

'बालक सुनहु विनय मम एहू।
तुम श्रीराम कि दूसर केहू।'

बालक आँखों-ही-आँखों विहँस उठा। सुधा-सिक्त कण्ठ-स्वर में उत्तर मिला :

'सफल राम अवतार गुसाईं।

हठात् यह कौन-सी विस्मयकर अनुभूति बाढ़ की कूलंकषा नदी की तरह, तुलसी की समग्र सत्ता को निमग्न करने लग गई ? ज्योतिर्लोक के सीमाहीन विस्तार में वे कहाँ बहे चले जा रहे हैं ? इस ज्योति की, इस आनन्द की तो जैसे कोई सीमा ही नहीं है। तुलसी ने उस पारावार की अपारता में अपने को खो जाने दिया।

बड़ी देर बाद वे होश में आये। किन्तु तब तक तो सब-कुछ को एकाकार कर, उनका सब-कुछ, उनके लिए निरर्थक और तुच्छ बनाकर, वह चंचल बालक, वन-पथ से होकर, कहीं अन्तर्धान हो चुका है।

तुलसी की आँखों से अनवरत बही जा रही है अविरल प्रेमाश्रु-धारा। उसे काँपते हाथों से बार-बार पोंछ कर, उन्होंने कहीं दो पंक्तियाँ इस प्रकार लिख डाली :

'चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर
तुलसीदास चंदन घिसे, तिलक करै रघुवीर'

तुलसी का रोना नहीं रुक पाता। वाष्प-गद्गद् कण्ठ से वे बोले : "हे प्रभो, तुम्हारी छलना भी लीलामयी है ! फिर तुलसी के जीवन में अपने अनन्त लीला-विलास के साथ तुम निवास क्यों नहीं करते, प्रभो ?"

इसी समय के आस-पास उनके सम्मुख भगवान् श्रीरामजी एक बार और आविर्भूत हुए। कृपामय ने तुलसी के प्रति कृपा-पूर्वक कहा : 'घबराओ मत, तुलसी, तुम मुझी को प्राप्त होगे। मेरी लीला भी तुम्हारे हृदय में चिर काल तक उद्भासित होकर विराजमान रहेगी। अब तुम जनमानस में मेरी लीला की कथा को अवस्थापित करने की चेष्टा करो। अपने लावण्यमय भाव-ऐश्वर्य और काव्य-सुषमा से मण्डित कर उसे समाज के स्तर-स्तर में प्रवाहित कर दो। कलिकाल के कलुषों को पखार फेंकने के लिए

तुम मेरी रामायणी कथा का वह नया संस्करण रच दो जो कलि के प्राणियों को उद्धार का मन्त्र बताये।'

राम का नाम और राम की लीला—तुलसीदास को इन्हीं दोनों के प्रचार का आदेश अब प्राप्त हो गया है। वे निकल पड़े हैं चित्रकूट और दण्डकारण्य के उन लीला-स्थलों की परिक्रमा करने, जो श्रीसीताराम के गुणग्राम के पावन स्पर्श से सदा पुण्यमय बने रहेंगे। श्रीराम की पद-धूलि ने उन्हें परम तीर्थ बना दिया है। अगणित साधक यहाँ आकर उद्धार पाते रहे हैं। प्रभु की पुण्य-स्मृति से दिजड़ित तीर्थभूमि की परिक्रमा ने तुलसी के तन-मन-प्राणों को लीला-माहात्म्य के अजस्र रस से ओतप्रोत कर दिया है।

दण्डकारण्य के दर्शन से इष्टदेव श्रीरामचन्द्र की स्मृति ने तुलसीदास के हृदय में लीला का पुण्यमय प्रकाश प्रज्ज्वलित कर दिया। इस अलौकिक स्मृति और अनुभूति को काव्य-कथा की माला में भक्त तुलसी चिन्तामणि की तरह पिरोने लगे :

"दण्डकवन प्रभु कीन्ह सुहावन।
जन-मन अमित नाम किय पावन॥
निशिचर-निकर-दलन रघुनन्दन।
नामु सकल कलि कलुष निकन्दन॥

—अर्थात् सचमुच कृपामय प्रभु ने मुझ में दण्डकारण्य की ही शोभा जगमगा दी थी। किन्तु यह दण्डक तो है निरा जंगल। उनके नाम ने अगणित जन-मन को पवित्र किया है। राक्षसों के समूह का विनाश श्रीराम ने अवश्य ही किया था। पर उनके नाम से तो कलि-काल के समस्त कलुषों का संहार संभव है। श्रीराम और उनकी लीलाभूमि दण्डकारण्य से राम-नाम की महिमा किसी भी दृष्टि से कम नहीं है।

राम-नाम के लिए नूतन-तर रामायणी कथा लिखनी ही होगी। इसके लिए तुलसीदास प्रस्तुत हैं। इष्टदेव रघुवीर के ध्यान और

जप में वे सदा विभोर रहते हैं। हृदय में उन्होंने अंकित कर ली है प्रभु की 'मंजुल-मंगल-मोहन मूर्त्ति। प्रभु के नील-कंज जैसे नेत्रों की छटा तुलसी की आँखों में रमी हुई है और उनके कण्ठ में है श्रीराम के मधुर नाम की गूँज। अब तुलसी की सम्पूर्ण सत्ता ही राम-नाम-मय हो उठी है।

उन्होंने निश्चय किया कि नव रामायण की रचना से पहले वे एकवार उत्तर भारत के समस्त तीर्थों के दर्शन करेंगे। इस पर्यटन के परिणामस्वरूप इष्टदेव के चरणों में मति दृढ़ होगी। इस तरह नई रामायणी कथा के अनुरूप काव्य-सामग्री का संग्रह भी किया जा सकेगा।

श्रीरघुनाथजी के जन्मस्थान अयोध्या में सरयू के तट पर उन्होंने दीर्घ काल तक निवास किया। कहते हैं कि यहीं उनके मनश्चक्षु के समक्ष रामावतार की वह दिव्यलीला एकबारगी उद्भासित हो उठी, जो क्रमशः राम-चरित मानस के रूप में रची गई काव्य-रचना का आधार है। श्रीराम की इसी कृपा का संकेत गोस्वामीजी कदाचित् स्वयं दे गये हैं :

'नौमी भौमवार मधुमासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकाशा।।

महासाधक तुलसीदास के जीवन में क्रमशः नाना योग-विभूतियों का प्रादुर्भाव हो चुका था किन्तु उनकी ओर दृष्टिपात करने का अवसर उन्हें नहीं था। वे तो राम-भक्ति के रस में ऊभ-चूभ थे। चिन्मय इष्टमूर्त्ति के साथ परम भक्ति की जिस आनन्द-लीला की अविराम धारा प्रवाहित हो चली थी, उसमें योग-विभूतियाँ तिनकों की तरह बह गईं।

नाना तीर्थों का भ्रमण करते तुलसीदास इस बार वृन्दावन

में आ विराजे हैं। चारों ओर वे सुनते हैं केवल राधाकृष्ण के नाम की ध्वनि। अपने आराध्य श्रीराम का नाम-कीर्त्तन वहाँ के किसी भी मन्दिर में उन्होंने नहीं सुना। यह देख वे थके-उदास से कुम्ह-लाकर, जहाँ-तहाँ, शान्त-भाव से बैठ जाते हैं।

उस दिन वृन्दावन में उत्सव था, मंदिर-मंदिर में महान् समा-रोह अति धूमधाम। परम रमणीय वेश में लीला पुरुषोत्तम के युगल रूप के श्रीविग्रह सजाये गये थे। एक सभृद्ध मित्र आग्रह करके तुलसीदास जी को श्रीमदन गोपाल के मंदिर में सोत्साह ले गये।

श्री विग्रह के सामने तुलसीदास खड़े हैं। जग को सियाराम-मय माननेवाले भक्त के लिए श्रीविग्रह को प्रणाम करने में दुविधा कैसी ? किंतु उनका मस्तक झुकने से साफ इनकार कर रहा है। देह के इस असहयोग से वे कातर हो रहे हैं। पर देह का दोष क्या ? जिस रूप, जिस भंगी से तुलसीदास का निरंतर चित्त-योग है, जो लीला-स्तुति उनकी समग्र सत्ता में ओतप्रोत है, उसपर स्वयं तुलसी का ही कैसा वश ? चिर-प्रिय रघुवीरजी के अतिरिक्त इस स्थिति से उनका उद्धार दूसरा कौन कर सकता है ?

भक्त-चूड़ामणि अपनी विवश विकलता के निवेदन में, मुरलीधर की मनोमोहनी मूर्त्ति के सामने हाथ जोड़कर खड़े हैं। उनकी आध्यात्मिक पीड़ा कातर प्रार्थना बनकर शब्दमय हो उठती है :

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नबै, धनुष-वाण लो हाथ ॥

अर्थात्, हे नाथ, आज की निराली शोभा का वर्णन तो मेरी शक्ति से परे है। तुम्हें जब जो रूप रुचे, तुम वही धारण करो, इसमें रोकने-टोकनेवाला तुलसी नहीं। तुम तो प्रत्येक रूप में एक

समान फबते हो। लेकिन प्रभो, अपने दास के मस्तक का हठ देखो। क्या इसे अपने कृपामय चरणों में झुकाने की खातिर तुम वंशी के बदले हाथों में धनुष-वाण धारण कर लोगे ?

कहते हैं कि मदन गोपालजी ने उस दिन भक्त तुलसी की मनोवाञ्छा पूरी करने के लिए सचमुच धनुर्धारी रूप का आश्रय ले लिया था। भगवान् की इसी कृपामय भक्त-वत्सलता की ओर लक्ष्य कर तुलसीदास ने लिखा है :

कित मुरली कित चंद्रिका, कित गोपिन के साथ।
तुलसी निज जन कारणे, नाथ भये रघुनाथ।

वृन्दावन, नैमिषारण्य प्रभृति का पर्यटन कर लेने के बाद तुलसीदास काशी आकर जम गये। संकटमोचन से थोड़ा हटकर उन्होंने अपनी चतुष्पाठी स्थापित की। किन्तु पास-पड़ोस के लोगों के उपद्रव से तंग आकर, उन्हें वह इलाका छोड़ देना पड़ा। यहाँ से जाकर वे कुछ दिनों तक गोपालमंदिर में रहे।

यहाँ वल्लभाचार्य के संप्रदाय के गोस्वामियों का अखाड़ा था। तुलसीदास से प्रायः वे सभी अकारण ही रुष्ट रहा करते। अन्ततः तुलसी को इस स्थान से भी विदा होना पड़ा। अब वे असी-घाट से थोड़ा उत्तर हटकर निवास करने लगे। इसी घाट पर अवस्थित एक मंदिर और निभृत गुहा में जीवन के शेष दिन उन्होंने व्यतीत किये।

कालान्तर में तुलसादास के इस साधन-स्थल ने वाराणसी के धर्म और समाज-जीवन में विशिष्टता प्राप्त कर ली। इसका आरंभ तुलसी के जीवन-काल में ही हो चुका था। असी घाट के निकट 'तुलसी घाट' के नाम से प्रसिद्ध इस स्थान पर तुलसीदास कीं साधन गुहा और कुछ अन्य स्मृति-चिह्न अब तक सुरक्षित मिलते हैं।

कहते हैं कि काशी में रहते, तुलसीदास ने सर्वप्रथम नव-रामायणी-कथा को संस्कृत भाषा में लिखना चाहा। उसका आरंभ

वे यथासनय कर चुके थे। कहते हैं कि रामचरित मानस के प्रत्येक काण्ड के आरंभिक श्लोक उसी रचना के स्मृति-चिह्न हैं। संस्कृत में आरंभ किये गये उस ग्रंथ को गोस्वामी जी ने जन-भाषा अवधी में क्यों और कैसे लिखा ? इस प्रश्न के उत्तर में एक जन-श्रुति प्रचलित है। लोग कहते हैं कि काशीधाम के अधीश्वर श्रीविश्वनाथजी की प्रेरणा से उन्होंने जनभाषा का आश्रय लेकर रामचरितमानस की रचना की थी।

उसवार तुलसीदास काशीधाम से अयोध्या चले आये थे। यात्रा-क्रम में उनका साक्षात्कार एक योगी से हुआ। उस प्रथम दर्शन में ही योगी-राज ने तुलसी को 'नववाल्मीकि' कहकर बुलाया। इस उत्साह और उद्दीपना ने 'रामचरित मानस' की रचना के प्रति गोस्वामी जी का मनोवल अवश्य ही बढ़ाया होगा।

तुलसीदास के इस नवपरिचित योगी वन्धु ने उनके रहते योगशक्ति के द्वारा स्वेच्छा से शरीर-त्याग किया। अयोध्या में सरयू किनारे उन्हीं के द्वारा बनाई गई कुटिया में तुलसीदास रहने लगे। रामचरित मानस के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश भी संभवतः यहीं लिखे गये।

रामचरित मानस की रचना अब पूर्ण मनोयोग के साथ होने लगी है। केवल राम चरित्र और रामायणी कथा तक इस रचना की पटभूमि सीमित रखना भक्त कवि के लिए, प्रेरणा-वश, अभीष्ट नहीं हुई, एक वृहत्तर पटभूमि की रचना कर, उसके केन्द्र में अपने इष्टदेव की लीला-कथा को अवस्थापित करने का ध्येय पूरा करने में वे जी-जान से जुट गये हैं।

इस महद्ग्रन्थ में महाकवि ने भक्ति-सम्मत आदर्श और आचारानुष्टान का माहात्म्य उपस्थापित कर दिया है। इसके लिए उन्होंने वाल्मीकि रचित रामायण के साथ-साथ, 'योग-वाशिष्ठ' 'अध्यात्म रामायण', प्राचीन संस्कृत धर्मग्रन्थों, पुराणों और अनेक

काव्यों का दोहन-किया है। 'प्रसन्न राघव', 'हनुमन्नाटिका', 'रघुवंश', 'श्रीमद्‌भागवत' और 'उत्तर राम चरित' का मन्थन कर, उन्होंने अजस्र तत्त्वों और रस-वस्तुओं का संग्रह किया है। इस मधुकरी-वृत्ति के परिणाम-स्वरूप काव्य-जगत् में प्रस्तुत हुई एक अनुपम काव्य-सृष्टि। जनभाषा में रचित होने के कारण यह जन-जन का, शीघ्र ही, कण्ठहार बन गई।

गोस्वामी तुलसीदास हैं एक ही साथ कवि और दार्शनिक, भक्त-साधक और शक्तिमान् योगी। इसी कारण देश-देशान्तर में उनकी असीम ख्याति निरंतर फैलती जा रही है। उनकी चतुष्पाठी में छात्रों, अभ्यागतों और दर्शनार्थियों की भीड़ लगी ही रहती।

गोस्वामीजी की यह ख्याति और प्रतिष्ठा काशी के ब्राह्मणों के एक दल को खलने लगी। वे तुलसी का अनिष्ट करने के लिए बेताव हो उठे।

इनका सबसे अधिक आक्रोश इस बात को लेकर था कि तुलसीदास ने हिंदी में रामकथा लिख कर देवभाषा को अपमानित और रामांयण को अपवित्र करने का षड्‌यन्त्र किया है। जो संस्कृत-मय रामायण का पाठ कर और उसका अर्थ बताकर जीविकोपार्जन करते थे, उन्हें बताया गया कि तुलसीदास ने उनकी जीविका पर आक्रमण कर दिया है। अब तो लोग हिंदी में लिखित रामचरित मानस पढ़कर रामायण का मर्म स्वयं समझ लेंगे, संस्कृत रामायण को सुनने-समझने की किसी को आवश्यकता ही नहीं रह जायगी !

दो कुख्यात चोरों के साथ इस दुष्टदल न षड्‌यन्त्र रचना की। निश्चय हुआ कि तुलसीदास के उक्त ग्रंथ की पाण्डु-लिपि को ही सदा के लिए गायब कर दिया जाय।

रात होने पर उक्त दोनों चोरों ने आश्रम में प्रवेश करना चाहा, पर सहसा उन्हें रुक जाना पड़ा। उनके प्रवेश-मार्ग पर

आकर खड़ा हो गया एक दिव्य-कान्ति-संपन्न, श्याम वर्णवाला किशोर। उसके हाथ में थे धनुष और वाण। तुलसी के उस आश्रम के चारों ओर घूम-घूम कर वह पहरा दे रहा था। बारंवार चेष्टा करने पर भी चौकसी देनेवाले को चकमा देने की हिम्मत उन चोरों को नहीं हुई। धनुर्धारी तरुण जैसे श्रान्ति-क्लान्ति से परे था। वह सारी रात जग कर पहरा देता ही रह गया।

दूसरे दिन, प्रातःकाल हो जाने पर, दोनों ही चोर, तुलसीदास के सामने उपस्थित हुए। आश्रम का पहरा करनेवाला वह तरुण, सुदर्शन रक्षक है कौन ? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए वे कुतूहल से आतुर थे। ऐसे तेजोमय, दिव्यकान्ति-संपन्न युवक को उनलोगों ने इसके पहले कभी और कहीं नहीं देखा था। पता नहीं क्यों, बारंवार, उस तरुण मूर्त्ति की छवि उनकी आँखों में रह-रह कर कौंध उठती। कुतूहल के साथ-साथ, दोनों चोर आत्मग्लानि में निमग्न हो रहे थें। उन्होंने पश्चात्ताप और आत्मग्लानि की इसी स्थिति में अपनी दुष्टतापूर्ण अभिसंधि की बात गोस्वामीजी को साफ-साफ बता दी। पूर्वरात्रि में चोरी की नीयत से आश्रम में प्रवेश करनेवाले दोनों व्यक्तियोंने निष्कपट भावसे अपना अपराध-भाव निवेदित कर दिया, कुछ छिपाया नहीं।

तुलसी एक ओर उनकी अभिसंधि-कथा सुन रहे हैं और दूसरी ओर उनकी आँखों से अविरल आँसू झरते चले जा रहे हैं। वे आर्त्त-स्वर में इतना ही बोल पाये : "भाई, तुमलोग वस्तुतः बड़भागी हो, धन्य हो तुमलोग ! तुम्हारे दर्शन कर, तुम्हारी बातें सुनकर, मैं भी आज धन्य हुआ। अनेक जन्मों के संचित पुण्य के कारण तुम दोनों ने मेरे प्रभु श्रीरघुनाथ जी के दर्शन पा लिये। आओ, बन्धु, आलिंगन देकर मुझे पवित्र कर दो।"

तो, स्वयं परम प्रभु श्रीरामचन्द्र, रात-रात भर जगकर, तुलसी की वस्तुओं की रखवाली कर रहे हैं ! ऐसी वस्तुओं से, ऐसी संपदा

से तुलसी का प्रयोजन ही क्यों ? वे ग्लानि और चिन्ता से विह्वल हो रहे थे। आश्रम के भोग-राग और पूजा के बर्त्तन-बासन के अतिरिक्त उनके पास संपत्ति थी ही कौन-सी ? उसी दिन आश्रम की वह पूरी संपदा, उन्होंने दरिद्र-मण्डली के बीच स्वयं आकर बाँट दी। हाँ, रामचरित-मानस की हस्तलिखित प्रति की रक्षा तो हर स्थिति में करनी ही थी। अन्ततः उस स्वलिखित पोथी को चोरों और षड्यन्त्रकारियों से बचाने के लिए एक घनिष्ठ मित्र के पास सुरक्षित रूप में स्थानान्तरित कर दिया। अब तुलसी की जान में जान आई।

नीति-निष्ठा और सदाचार-मर्य्यादा के प्रति तुलसीदास की कठोर सतर्कता के कारण भी, अनेक लोग उनके शत्रु बन बैठे। तान्त्रिकों के एक दल ने अभिचार-प्रयोग के द्वारा उनके प्राण-नाश के उपाय किये। कृपालु महावीरजी की अनन्य कृपा न होती, तो उस षड्यंत्र से तुलसी का बचाव संभव नहीं होता।

राम नाम के प्रचार में तुलसी दीवाने बन बैठे। वाक्-सिद्ध महापुरुष के रूप में उन्हें प्रसिद्ध कर देनेवाली किंवदन्तियाँ समग्र देश में धीरे-धीरे फैलने लगीं। उनके द्वारा प्रचारित रामनाम के महा-मन्त्र की महिमा सर्वत्र व्याप्त हो गई। इस मन्त्र के माध्यम से एक-से-बढ़कर एक अनोखे काण्ड घटित हुए। चकित श्रद्धालुओं के बीच आश्चर्यकारी वृत्तान्तों की जनकथाओं ने तुलसी को जननायक और महिमामय महापुरुष के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

उस दिन तड़के ही उठकर, एक व्यक्ति, तुलसी के पास रोता-रोता पहुँचा। उससे ब्रह्महत्या का महापातक हो गया था। पश्चात्ताप की सीमा नहीं, किन्तु कौन-सा प्रायश्चित्त कर वह इस महापाप की यन्त्रणा से उद्धार पाये, यह उसे कोई बता नहीं पाता। काशी के कट्टर पंडितों ने इतना अवश्य बताया है कि उस पाप से उद्धार

का एकमात्र उपाय है आत्मदाह। इसके बिना छुटकारा संभव नहीं होगा।

ब्राह्मण-वध के पाप का भागी वह अभागा व्यक्ति तुलसीदास के चरणों में लिपट कर रो रहा है। गोस्वामीजी ने अभयदान देते हुए पूछा : 'क्या बात है, भाई ? अरे, सर्वपापहर राम-नाम के रहते उद्धार पाने की खातिर, तुम्हें आत्महत्या के द्वारा प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं होगी। धैर्य रखो।'

तुलसी ने उसके कान में राम-नाम का महामन्त्र डाल दिया।

कट्टर-पन्थियों ने गोस्वामीजी की इस प्रायश्चित्त-व्यवस्था को कबूल नहीं किया। पर तुलसीदास अडिग रहे। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि राम-नाम का मन्त्र पाकर वह पापी अब पापी नहीं रहा; सर्वथा पाप-मुक्त हो गया है। तुलसी की राय में पृथ्वीतल में ऐसा पाप नहीं, जिसे रामनाम के द्वारा भष्मीभूत नहीं किया जा सके।

तुलसी ने कट्टर-पन्थियों के प्रतिनिधि से पूछा : "महापाप से मुक्त होने के उक्त तथ्य को यदि मैं प्रत्यक्षतः प्रमाणित कर दूँ, तब तो आपको कोई ऐतराज न होगा ?" पंडितों की उत्तेजित मण्डली ने क्रुद्ध स्वर में चुनौती दी : "देखो तुलसी, यदि तुम्हारे राम-नाम में इतनी शक्ति है, तो उसकी करामात हमलोगों को दिखा ही दो। हम इस ब्रह्म-हत्याकारी को तभी पाप-मुक्त मानेंगे यदि इसके हाथों दी गई घास को शिव-मंदिर के प्रांगण में अवस्थित वृषभ की पाषाण-मूर्त्ति रुचि के साथ भक्षण कर ले। बोलो, है यह संभव ? इसके बिना तुम्हारे राम-मन्त्र के महात्म्य को हम महज तेरी बात मान-कर मान्य नहीं करेंगे।"

तुलसी ने धीर-भाव से कहा—'तथास्तु'

कहते हैं कि अगणित जनसमूह की आंखों के सामने शिव-मंदिर

के पाषाणमय साँढ ने ब्रह्महत्या करनेवाले व्यक्ति के द्वारा दी गई घास कुतर-कुतरकर खाई !

मणिकर्णिका घाट पर उस दिन एक सद्यः विधवा नारी अपने मृत पति के शव के साथ सती होने के निमित्त आई है। तुलसी उसी घाट से होकर कहीं जा रहे हैं। पतिहीना नारी ने श्रद्धापूर्वक उनकी चरण-वन्दना की। उसने लाल किनारी की साड़ी पहन रक्खी है; उसकी माँग में है सिंदूर की लाल रेखा और हाथ में है नारियल का कच्चा फल।

तुलसी उस समय भावावेश में थे। वस्तु स्थिति की सुध-बुध उन्हें नहीं थी। उन्हें केवल इतना ही पता चला कि कोई विवाहिता नारी प्रणाम कर उनका आशीर्वाद चाहती है। उनके मुख से निकला: "सुखी रहो माँ, पति-पुत्रवती होकर संसार में सुख-लाभ करो।"

यह कैसा आशीर्वाद दे दिया गोस्वामीजी ने ! मृत पति के शव की ओर उनका ध्यान आकृष्ट कर नारी ने कहा: "बाबा, जिस नारी का पति लोकान्तर-गमन कर चुका हो, वह पति-पुत्रवती होने के आशीर्वाद की किस प्रकार अधिकारिणी होगी ?" पर सिद्ध-वाक् महापुरुष की वाणी निष्फल नहीं हुई। कहते हैं कि उसका मृतपति तत्क्षण जीवित होकर उठ बैठा।

श्रीरामचंद्र की ऐश्वर्य-स्मृति से तुलसी का हृदय सदा परिपूर्ण रहता था। इसीलिए किसी दरिद्र को दरिद्र देखना उनसे सह्य नहीं होता। वे स्वयं लिखते हैं:

"नहिं दरिद्र-सम दुख जग माँही"

उन्हें जब कभी अवसर मिलता, वे दीन-दरिद्रों को दुःख से मुक्त करने के उपाय करते।

एक बार काशी का एक विपन्न ब्राह्मण उनके पास आकर रोने लगा। उसने सुन रक्खा था कि गोस्वामीजी अलौकिक योग विभूतियों

से संपन्न हैं। वह उनकी कृपा के सहारे विपत्ति से छुटकारा पाना चाहता था।

तुलसीदास उस समय गंगा की धारा में खड़े होकर एकान्त भाव से राम-नाम का जप कर रहे थे। ब्राह्मण की दशा देखकर उन्होंने गंगा से उसके लिए जमीन माँगी। गंगा की धारा तभी एक तरफ को सरक गई और धारा की छोड़ी गई जमीन तुलसी ने उस ब्राह्मण को दे दी।

कहते हैं कि चित्रकूट में निवास करते समय दरिद्र ब्राह्मण को उन्होंने दी थी एक दारिद्रय-मोचन-शिला। उस शिला के प्रभाव से वह ब्राह्मण इच्छानुरूप धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया था।

तुलसीदास के योग-ऐश्वर्य ने उनके जीवन के शेष-काल में अगणित नर-नारियों को उनके चरणों में आश्रय-ग्रहण करने की प्रेरणा दी। उनके संबंध में नाना विस्मयकर जनश्रुतियों की सृष्टि उस समय स्वभावतः हुई होगी। ऐंसी ही जनश्रुतियों से आकृष्ट होकर दिल्ली के बादशाहने एकवार अपनी राजधानी में निमन्त्रित किया। बादशाह का अनुरोध हुआ कि गोस्वामीजी अपनी अलौकिक शक्ति का कोई चमत्कार प्रदर्शित करें।

तुलसी ने विनय-पूर्वक निवेदन किया: "सम्राट्, मैं तो श्रीरामचन्द्रजी का एक अदना सेवक हूँ। मैं अलौकिक तत्त्व क्या जानूँ?"

तुलसीदास का यह कथन सुनकर बादशाह को क्रोध हुआ। उन्हें लगा कि तुलसीदास उनकी अवहेलना कर रहे हैं। बादशाह के आदेश से उन्हें तत्क्षण कारागार में बन्द कर दिया गया। कहते हैं कि इस घटना के घटित होने के साथ-साथ सारी दिल्ली उपद्रवी बन्दरों की असंख्य सेना से भर उठी। बन्दरों के उत्पात से उस नगर में रहना असंभव हो गया। दरबार के विशिष्ट हिंदू सभासदों ने बादशाह को समझाया : "रामभक्त तुलसीदास को कैद करने का

ही यह नतीजा है। गोस्वामीजी की योग-विभूति की ही है यह लीला। यदि उन्हें कारागार से शीघ्र ही मुक्त नहीं किया जायगा तो इस अमंगल का अन्त नहीं।" अगत्या, बादशाह ने गोस्वामी श्रीतुलसीदास को कारागार से मुक्त कर दिया।

अब तुलसी के जीवन का अन्तिम भाग शुरू हो चुका है। प्रभु रामचंद्र के नाम के महात्म्य का और धर्मराज्य के आदर्श का प्रचार करते, वे वृद्धावस्था में पहुँच चुके हैं। इसी का तो उन्हें आदेश दिया था प्रभु ने। जहाँ तक संभव हुआ उन्होंने आप्राण चेष्टा कर इष्टदेव के आदेश का पालन किया। व्रत के उद्यापन की बेला भी व्यतीत हो गई है अब।

तुलसी के सर्वांग शरीर में प्राणान्तकारी फोड़े निकल आये हैं। जीर्ण-शरीर में अब यह शक्ति नहीं कि इस सांघातिक रोग का वह मुकावला कर सके। क्या अपने प्रिय भक्त को श्रीरघुनाथजी, अब अपने लोक में वापस बुला लेना चाहते हैं? प्रभु का आलिंगन-पाश क्या मृत्यु के रूप में शीघ्र ही उपस्थित होगा? तुलसी ने अपने सेवकों से अन्तिम घड़ी की बात इस प्रकार कही।

'राम नाम जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अब तौ तुलसी सोन।'

—अर्थात् जो जिह्वा राम-नाम का यश-वर्णन किया करती थी, वह अब सदा के लिए चुप हो जाना चाहती है। अब तुलसी के मुख में रख दो तुलसीदल और सोना।

असीघाट के पास के अपने आश्रम में तुलसीदास अपनी शय्या पर पड़े हैं। मिलन-विरह के तरंगायित जीवन के शेष में चिर-मिलन-लग्न के प्रति यह उनकी अन्तिम प्रतीक्षा है।

थोड़ी ही दूर पर श्रावण मास की भरी गंगा, सागर-संगम के लिए उच्छल-आतुर होकर हहराती भागी जा रही है। महा-

भागवत तुलसी की जीवत-धारा भी तो इसी तरह आज प्रिय-मिलन-सागर में उत्कंठित भाव से विलीन हो जाना चाहती है।

१६२३ खिृस्टाब्द का मेघाच्छन्न दिवस इस मिलन-यात्रा का संदेश लेकर आ गया है। शुक्ला सप्तमी तिथि को भक्त-कवि तुलसीदास जरा-जर्जर नश्वर शरीर को त्यागकर उस मिलन-यात्रा की दिशा में विदा हुए।

राजा रामकृष्ण

अठारहवीं शताब्दी का द्वितीयार्द्ध। पलासी की लड़ाई के पूर्व बंगाल के आकाश में एक राष्ट्रीय विपत्ति का आभास प्रकट हुआ। चारों ओर केवल शंका, सन्देह और उत्कंठा।

ऐसे समय में नाटोर राजप्रासाद में आज कैसा उत्सव-समारोह? चारों ओर दरवाजे पर बिजली की सजावट, प्रत्येक चौकी पर वाद्ययंत्र, हर कमरे में हँसी-खुशी का वातावरण। संभ्रान्त अभ्यागतों को लेकर सभी अति व्यस्त हैं।

महारानी भवानी और दीवान दयाराम राय को एक क्षण का भी अवकाश नहीं है क्योंकि महारानी आज अपने दत्तक पुत्र का चयन करने वाली हैं।

उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। नाटोर राजवंश की धारा को बचा कर रखना ही होगा। साथ ही, नाटोर राज्य के भूमि-अधिकार की जिससे रक्षा हो, वह उपाय भी करना ही होगा। इसीलिए उन्होंने पुत्र गोद लेने का निर्णय किया है।

देश-विदेश से सुलक्षण और संभ्रान्त ब्राह्मण बालकगण आमंत्रण पाकर आये हैं। प्रासाद के बड़े कमरे में बैठकर अभिभावकगण

सोच रहे हैं—कौन जाने, किस भाग्यवान शिशु को आज अर्द्ध बंग की जमीन्दारी प्राप्त करने का सौभाग्य मिलेगा ?

दोतल्ले के एक कमरे में इन बालकों के भोजन की व्यवस्था हुई है। वहीं महारानी सब को देखेंगी। दीवान दयाराम राय बहुत ही व्यस्त से आकर उन लोगों से ऊपर पहुंचने का अनुरोध करते हैं।

सभी ऊपर पहुँच गये हैं। एक सुन्दर बालक केवल चुपचाप खड़ा है। इसके पिता और साथ में आया हुआ सेवक किसी कारणवश बाहर गये हैं। इसीलिए वह केवल इधर-उधर देख रहा है और उन लोगों को ढूँढ़ रहा है।

दीवान दयाराम इस जमीन्दारी के प्रतापी शासक हैं—एक पुरुषसिंह। वे दूर से ही वज्र गंभीर स्वर में बोले, "बालक, तुम अभी भी खड़े क्यों हो ? शीघ्र रानी माँ के पास ऊपर खाने के लिए चले जाओ।"

बालक चुपचाप खड़ा है। दयाराम उसके निकट आये। सौम्य-दर्शन तथा अपूर्व लावण्य युक्त इस बालक को देखते ही दीवानजी अपना मन-प्राण खो बैठे।

उन्होंने स्नेहपूर्वक पूछा, "अभी भी तुम यहाँ क्यों खड़े हो ? भोजन करने नहीं जाओगे, बालक ?"

बालक ने उत्तर दिया, "कैसे जाऊँ, बोलो ! मुझे जूता कौन पहना देगा ?"

"क्यों ? तुम खुद ही पहन लो ना !"

छोटा बालक होने के नाते वह बोला, "नहीं, तुम्हीं पहना दो मेरा जूता।"

इस बालक के मुख तथा आँखों में पता नहीं कैसा अनिर्वचनीय आकर्षण है। सिंहपुरुष दयाराम राय स्नेह तथा ममता से हठात् पिघल गये। उसी क्षण घुटनों के बल बैठकर उन्होंने बालक के छोटे-छोटे पाँवों में जूतों की जोड़ी पहना दी।

फिर उस छोटे-से नवाब का हुक्म हुआ, "मुझे तुम गोद में लेकर ऊपर भोजन कक्ष में ले चलो।"

प्रगाढ़ स्नेह से इस तेजस्वी अपूर्व सुन्दर बालक को गोद में लेकर दयाराम दोमंजिले की तरफ चले। रास्ते में बालक का पितृ-परिचय पाकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उस समय उन्हें ऐसा लगा मानों कोई बार-बार यह कह रहा है कि यही है वह बालक, यही है वह बालक।

महारानी के समक्ष उपस्थित होकर दीवान बोल उठे, "माँ, आपको अब अधिक विचार नहीं करना है। बालक के चयन का कार्य हो गया है। नाटोर की गद्दी पर केवल यही बालक बैठ सकता है।"

कुछ देर तक रानी प्रशंसा दृष्टि से उस बालक को देखती रहीं। उसके बाद बोलीं, "अच्छा, दीवानजी, आप अकस्मात् इसे ही क्यों पसन्द कर बैठे, बोलिये तो?"

"माँ, इस कठोर दीवान दयाराम को आदेश देकर जो बालक जूता पहन सकता है, नाटोर का महाराजा बनना उसे ही शोभा देगा। इसके अलावा मैंने पता लगा लिया है, ये लोग नाटोर की ही बिरादरी के हैं।"

रानी ने बालक को गोद में लेकर उसका मुख चूमा। बोलीं, 'तब यही हो। मैंने तो काशी में रहने का विचार स्थिर कर लिया है'। जमीन्दारी आप चलायेंगे। अपना मालिक आपने स्वयं ही ठीक कर लिया है, यह अच्छा है।

उस दिन का यही बालक उत्तर काल में शक्तिशाली तंत्र साधक राजा रामकृष्ण के रूप में जाना गया।

राजसाही के आठग्राम नामक स्थान में उच्च ब्राह्मण वंश में साधक रामकृष्ण का जन्म हुआ था। हरिदेव राय यहाँ के एक

गृहस्थ थे और रामकृष्ण उन्हीं के कनिष्ठ पुत्र। इस राय परिवार के साथ नाटोर राजवंश का जातीय सम्बन्ध था।

रानी भवानी ने महासमारोह के साथ रामकृष्ण को गोद लिया। इतने बड़े भूखंड की अधिकारिणी होने के बावजूद उनको चिन्ता की सीमा नहीं थी। भागीरथी के दोनों तट पर अशान्ति की अग्नि धू-धू कर रही है। नवाब सिराज का चित्त अशान्त है—उनके शासनतंत्र को षडयंत्र, दुर्नीति और अकर्मण्यता के घुन ने जकड़ लिया है। राज्य में केवल अशान्ति और उच्छृंखलता है। सर्वाधिक विपत्ति की बात तो यह है कि किशोर नवाब अपने हठ और अनाचार से प्रवल असंतोष जगा रहे हैं।

प्राणपन से चेष्टा करके भी रानी अपनी जमीन्दारी में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना नहीं कर पा रही हैं। आजीवन निष्ठापूर्वक अपने धर्म का पालन करती रही हैं, जमीन्दारी की देखभाल में भी कम योग्यता का परिचय नहीं दिया है। किन्तु, इस समय विषय-सम्पत्ति का अधिक झंझट अपने माथे पर लेने की इच्छा नहीं होती। फिर, उम्र भी कम नहीं रही। अधिक नहीं, अब तो काशीधाम जाकर विश्वनाथ के चरणों में आश्रय लेंगी।

और अनेक दुश्चिन्ताएँ भी हैं। उनकी अनुपस्थिति में नाटोर की भूमि हाथ से निकल जायेगी—लक्ष-लक्ष आश्रित प्रजा को चरम अराजकता के गर्त में पड़कर दुःख झेलना पड़ेगा। इतिहास-प्रसिद्ध नाटोर वंश और उसकी मर्यादा का भी लोप हो जायेगा।

रानी में कल्याण-बोध के साथ-साथ प्रतिभा और विषय-बुद्धि का अपूर्व समन्वय है। ऐसे समय ही में उन्होंने पुत्र गोद लेने का निर्णय किया।

रानी भवानी के अगाध ऐश्वर्य और प्रताप की छत्रछाया में बालक रामकृष्ण बढ़ने लगे। रानी की प्रतिज्ञा थी, पुत्र को सब गुणों से सम्पन्न करना है, एक असामान्य पुरुष के रूप में रूपान्तरित

करना है, शिक्षा दीक्षा और जमीन्दारी के परिचालन की क्षमता बढ़ानी है और साथ-ही-साथ, ऐसा उपाय करना है जिसमें उसके अन्दर धर्मजीवन अंकुरित हों। इसके लिए चेष्टा और प्रयत्न में कोई कमी नहीं होगी।

नाटोर में उन दिनों सदा ही ज्ञानी, गुणी और साधु-संन्यासियों का आना-जाना था। रानी, पुत्र सहित, इन लोगों के पास बैठकर प्रायः उपदेश ग्रहण करती थीं। जन कल्याण के लिये दान-ध्यान के उत्साह में भी वे कभी पीछे नहीं रहती थीं। प्रासाद में शायद कंगाली भोजन हो रहा है। यहाँ रामकृष्ण को आगे रखा गया है। एक लाख ब्राह्मणों की पदधूलि ग्रहण करने के व्रत का शायद रानी उद्यापन कर रही हैं--कुमार भी माता के साथ रहकर स्वर्ण पात्र में उसी धूलि का संग्रह कर रहे हैं।

श्रेष्ठ आचार्यों के अधीन कुमार की शिक्षा चल रही है।

किन्तु इस अगाध प्रताप एवं ऐश्वर्य, धर्माचरण एवं जनसेवा, किसीका कोई आकर्षण रामकृष्ण के लिए बड़ा नहीं है। राजपुरी के कोलाहल से बहुत अलग वे उदासीन-से रहते थे। उन्हें कुछ पाना था। यहाँ नहीं, शायद किसी दूसरी जगह उनका प्रकृत स्थान था। केवल यही चिन्ता उनके अन्तर को तड़पाती थी।

प्रखर बुद्धिशालिनी रानी की दृष्टि से बचना कठिन था। कुमार के मनोभाव और आचरण से वे बहुत चिन्तित हो उठीं। मंत्रिगण उन्हें नाना परामर्श देते थे।

रानी के गुरुदेव रघुनाथ तर्कवागीश को इस वार बुलाया गया। तर्कवागीश का सुपंडित और विलक्षण रूप में सुनाम था। रानी ने उनसे परामर्श मांगा। वे बोले, "माँ, रामकृष्ण की शादी कर दें, और कुमार के हृदय में धर्मजीवन की जो आकांक्षा उग्र हो रही है उस ओर देखते हुए अविलम्ब उसे दीक्षा देने की व्यवस्था करें।

कुमार की शादी की व्यवस्था स्थिर हुई।

रामकृष्ण के संसार और धर्मजीवन के चारों ओर दीवार खड़ी कर दी गई जिससे कि वे किसी तरफ से बाहर नहीं जा सकें।

वे पुत्र का विवाह करके सुलक्षणा रानी परम रूपवती वधू को घर ले आयीं। तर्कवागीश ठाकुर के निर्देश से कुमार रामकृष्ण को माता रानी भवानी ने ही दीक्षा-मंत्र दिया। तीक्ष्ण पंडित मन-ही-मन चाह रहे थे कि यह गोद लिया गया पुत्र उत्तरकाल में कम-से-कम गुरू-ज्ञान में ही माता के प्रति भक्तिमान रहे।

अब रानी के लिए अवकाश-ग्रहण करने का समय उपस्थित हुआ। वे धीरे-धीरे संसार से अपने को अलग करन की चेष्टा में है। इस समय कभी वे मुर्शिदावाद के निकट गंगा के किनारे निवास करती हैं, तो कभी वड़नगर के प्रासाद में। लेकिन अधिकांश समय बे वाराणसी धाम में रहकर पूजा और व्रत के उद्यापन में ही बिता रही हैं।

राजा रामकृष्ण अपनी जमीन्दारी से सम्बन्धित प्रशासन-कार्यों में लगे रहते हैं। वे अत्यधिक भूमि और अतुल कीर्त्ति के उत्तराधिकारी हैं। लेकिन जीवन में प्रकृत शान्ति का रसास्वादन उन्हें कहाँ मिल रहा है? सुन्दरी तरुणी स्त्री का साहचर्य, नवजात पुत्र का आकर्षण, प्रासाद का आनन्द-उत्सव, किसी से भी उनके अन्तर की भूख मिट नहीं रही है। समस्त ऐश्वर्य, विलास और आडम्बर से हटकर उनका मन दिन-प्रतिदिन एक अहेतुक पीड़ा से व्याप्त होता जा रहा है।

सभी बन्धन तोड़कर परम मुक्ति के लिए राजा रामकृष्ण अधीर हो उठे है। रानी भवानी के यत्न से गठित सुरक्षा की कोई भी दीवार अब पुत्र को बाँधकर नहीं रख पा रही है।

नाटोर की जयकाली-प्रतिमा बहुत विख्यात है। राजा रामकृष्ण अपने अशान्त एवं उद्वेलित हृदय की शान्ति के लिए देवी के चरणतल

में नतमस्तक हैं। एक प्रहर से दूसरे प्रहर तक निरन्तर वे भगवान् के नाम-ध्यान में व्यस्त रहते हैं। बीच-बीच में वाग्सर के श्मशान में जाकर भी ध्यान-मग्न हो जाते हैं।

नाटोर के बहुत ही नजदीक अन्यतम शक्तिपीठ के रूप में स्थित एक दूसरा ग्राम है भवानीपुर। विशेष-विशेष तिथियों के महासमारोहों में राजा रामकृष्ण वहाँ उपस्थित होते हैं। वहाँ षोडशोपचारपूर्वक माँ की पूजा-अर्चना होती है। उसके बाद कई-कई दिनों तक वे पंचमुंडी के आसन पर ध्यान-मग्न होकर रहते हैं।

एकबार तारापीठ जाकर उन्होंने प्रसिद्ध तांत्रिकों के साथ मुलाक़ात की। वहाँ उन्हें साधन-निर्देश और निगूढ़ तंत्र-क्रियादि की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस समय भवानीपुर में एक महाशक्तिमान कौलाचार्य का आविर्भाव हुआ। उनके निकट राजा रामकृष्ण पूर्णाभिषिक्त हुए और उन्होंने शवसाधना का अनुष्ठान किया।

कौलमार्ग की निष्ठायुक्त साधनधारा को पकड़ कर रामकृष्ण का आध्यात्मिक जीवन प्रवाहित होने लगा। इस समय प्रायः वे भवानीपुर के शक्तिपीठ में जाकर तपस्या में मग्न हो जाते थे।

शक्तिपीठ भवानीपुर नाटोर से प्राय. अढ़ाई कोस दूर है। शाक्त ग्रंथों में यह उल्लेख है कि करतोयार के निकट इसी पवित्र पीठ में सती का पतन हुआ था। यहाँ की अधिष्ठात्री प्रतिमा का नाम अपर्णादेवी हैं, लेकिन जनसाधारण में यह शक्ति-प्रतिमा भवानी देवी के नाम से ही विख्यात है।

मंदिर के चारों ओर राजा रामकृष्ण ने अब नये रूप से चार पंचमुंडी आसन स्थापित किये। नजदीक ही, दो सरोवरों के पास वकुल-वाटिका है। यह उनकी सन्ध्याकालीन धर्मसभा का स्थान था। प्रसिद्ध तांत्रिक आचार्यों के कुलाचार की विवेचना और

साधनमार्ग के अनेक मूल्यवान निर्देश इस सभा में ग्रहण कर सभी लोग उपकृत होते थे।

शक्तिपीठ में समागत कौलसाधकों और साधारण यात्रियों की सेवा के लिये अर्थ-व्यय की पर्याप्त व्यवस्था नाटोर राजसरकार ने तब कर रखी थी। भवानी देवी की सेवा-पूजा के लिये राजा रामकृष्ण ने उस समय बड़ी राशि की आय का एक तालूका अलग कर दिया।

उस दिन अमावस्या की अँधेरी रात। चारों ओर अन्धकार था। जयकाली-मंदिर के भीतर राजा रामकृष्ण महाशक्ति की आराधना में रत थे। क्रिया-अनुष्ठान सब समाप्त हो चुका था। अधिक मात्रा में मद्यपान करने से उनकी दोनों आँखें नशे में चूर थीं। बार-बार हाथों में लाल अरहुल और बेलपत्र भर कर वे माँ के चरण-कमलों में चढ़ा रहे थे। क्षण-क्षण चारों और गुंजायमान हो रहा रहा था उस शक्ति-साधक का 'माँ-माँ' उच्चारण।

कुछ देर में रामकृष्ण गहरे ध्यान में मग्न हो गये। उस समय उनके पास केवल दो व्यक्ति रह गये—प्रिय अनुचर भोला एवं मंदिर के पुरोहित।

इस समय अकस्मात मंदिर के प्रागण में दण्ड-कमण्डल त्रिशूल-धारी एक संन्यासी दिखलायी पड़े। उनके विशाल सुडौल शरीर पर भूरी जटा लहरा रही थी। दोनों नयनों में झकमक कर रही थी सिद्ध साधक की दिव्य ज्योति।

मंदिर के पुरोहित ने उनका सादर स्वागत किया। आगन्तुक आशीर्वाद देकर बोले, "मैं राजा रामकृष्ण से मिलने आया हूँ, अभी तुरत मुझे उनके पास ले चलो।"

सेवक शिष्य भोलानाथ देवी मंदिर के द्वार पर पहरेदार के रूप में खड़ा था। उसने निवेदन किया, "प्रभु, ध्यान में मग्न रहने

के समय महाराज के पास जाने का कोई उपाय नहीं है। अच्छा यही होगा कि आप कल प्रातःकाल आकर उनसे अपनी बात कहें।"

क्रोध से महापुरुष की आँखें लाल हो गईं। उसी समय अपने दण्ड-कमण्डल और बघछाल, सब को संभालकर वे उठ खड़े हुए। मंदिर के चबूतरे पर जाकर वे चिल्लाकर बोले, "राजा रामकृष्ण तुम्हें धिक्कार है। इस तरह आज तुम खुद को ही भूल गये हो। तुम क्या थे ? तुम्हारा असल परिचय क्या है ? एक बार तुम याद करके देखो अपना पहला जीवन। इस माया के बन्धन को तोड़ डालो।"

सन्नाटा भरी रात में संन्यासी की वज्र-गंभीर ध्वनि से चारों ओर सभी चकित हो उठे। इसके बाद संन्यासी भी कहीं अदृश्य हो गये।

रामकृष्ण ध्यानमग्न थे। संन्यासी के इस उच्च स्वर ने उन्हें चकित कर दिया। उन्हें लगा, यह तो बहुत परिचित कंठस्वर है। इस सुनसान अंधेरी रात में मंदिर के प्रांगण से कौन उन्हें आवाज दे रहा है ?

अस्त-व्यस्त-से वे दौड़कर बाहर आये। पुरोहित और भोला से पूछा, "कहाँ गये वे संन्यासी ?"

बहुत खोजने पर भी संन्यासी का पता नहीं चला। सुबह होने पर रामकृष्ण जब प्रासाद में वापस आये तो वहाँ भी उन्हें लगा जैसे कोई उनसे कह रहा हो, "बन्धन को तोड़ डालो"। आगन्तुक संन्यासी के कण्ठस्वर को सुनकर उन्हें लग रहा था जैसे वे बहुत ही परिचित और अपने हों। उनका आह्वान अमोघ था। साधक राम-कृष्ण के हृदय में न जाने कैसी व्यथा हो रही थी। एक तीव्र आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींच रहा था, उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को हिला रहा था। उन्होंने निश्चय कर लिया, इस मायापास और राजत्व-बन्धन को किसी भी तरह छिन्न करना ही होगा।

मुक्ति का अवसर भी शीघ्र ही आ गया। गवर्नर जेनरल हेस्टिंग्स की मनमानी और उत्पीड़न उस समय चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। अवसर खोजकर वे एक के बाद एक राज्य तथा जमीन्दारी का ग्रास करने लगे। हेस्टिंग्स के षड्यंत्र से कुछ ही दिनों में नाटोर की प्रधान सम्पत्ति बाहिरबन्द परगना से राजा रामकृष्ण को हाथ धोना पड़ा। हेस्टिंग्स ने अपने एक ताबेदार के नाम यह वृहत् परगना लिख दिया।

नाटोर राज्य के लिए यह एक बड़ी क्षति थी। किन्तु राजा रामकृष्ण ने इतनी बड़ी क्षति को भी साधारण रूप में ही लिया। एक आश्रित व्यक्ति के विश्वासघात के कारण मूल्यवान भूषना परगना भी हाथ से निकल गया। एक के बाद एक आनेवाली इन सभी विपत्तियों में राजा रामकृष्ण एक संन्यासी की तरह स्थिर रहे। कम्पनी का राजस्व चुकाने के लिये बीच-बीच में जमीन्दारी नीलाम की जा रही थी। एक-एक कर इन सम्पत्तियों के बेचे जाने की खबर सुनते थे, और सांसारिक बंधनों से मुक्ति की खुशी में निश्चिन्तता की साँस लेते थे। मंदिर में महा समारोह और षोडशोपचार पूजा की व्यवस्था हो रही थी। मुक्ति के लिए उस दिन वे अधीर हो उठे।

आठग्राम के रिश्तेदार भी अब अवसर पाकर रामकृष्ण को गद्दी से हटाने की चेष्टा करने लगे। चुपके-चुपके नवाब सरकार की सहायता लेकर वे लोग नाटोर की जमीन्दारी पर कब्जा करने के लिए कदम उठाने लगे। लेकिन उनलोगों की यह चेष्टा व्यर्थ हो गई।

इस षड्यंत्र की सारी बातें सुनने के बाद रामकृष्ण ने उनलोगों को अपने पास बुलाया। हँसकर बोले, "तुमलोगों ने मुझे यह सब नहीं बताकर बेकार इतनी तकलीफ की। फिर भी, मेरे कान में जब यह बात आयी है तो मैं तुमलोगों की कुछ आकांक्षा जरूर पूरी करूँगा।

इसके बाद उन्होंने अपनी जमीन्दारी का एक बड़ा हिस्सा इन षड्यंत्रकारियों के नाम लिख दिया।

उनके कर्मचारियों ने इस काम में बाधा डालने की कोशिश की थी। तब राजा रामकृष्ण ने उनसे हँसकर कहा था, "किन्तु जमीन पाकर उनलोगों की अशान्ति थोड़ी दूर हो सकेगी।"

सांसारिक विषयों से उनकी विरक्ति तब चरम सीमा पर पहुँच गई थी। घर संसार और जमीन्दारी के प्रति महाराज के मन में अब कोई आकर्षण नहीं रहा था। वे सोच रहे थे, अवसर मिलने पर नाटोर छोड़कर किसी निर्जन वन में या नदी के तट पर चला जाऊँगा। ऐसा सोचते वे ध्यानमग्न हो गये। ऐसी हालत के कारण बन्धु तथा सेवकगण उन्हें हमेशा अपनी आँखों के सामने रखने की चेष्टा करते थे।

नाटोर से पाँच-छः मील दूर प्रसिद्ध वाग्सर श्मशान राजा रामकृष्ण का अन्यतम प्रिय विचरण क्षेत्र तथा साधनभूमि था।

नदी के किनारे इस भयंकर श्मशान भूमि में शवों और नरक-कंकालों के बीच राजा रामकृष्ण रहा करते थे। सियार और कुत्तों के समूह की विकट चीत्कार के साथ मिल जाया करती थी उनकी "माँ-माँ" की ध्वनि। सभी दिशाएँ प्रकम्पित हो उठती थीं। ऐसे समय में कभी-कभी साधक गा उठते थे :—

अभी भी क्या ब्रह्ममयी,
हुआ नहीं माँ, तुम्हारे मन लायक !
अकुशल इस सन्तान के प्रति,
वंचना कितना होगी माँ !

और कितने साल बीत गये। राजा रामकृष्ण की साधना और सिद्धि की बात, अति दानशीलता की बात, उस समय सम्पूर्ण बंगाल के घर-घर में फैल गयी। राज्य का ऐश्वर्य अब पहले जैसा नहीं

रहा। लेकिन, राजसभा में जाकर बैठते ही राजा रामकृष्ण एका-एक कल्पतरु बन जाते थे। किसी प्रार्थी को वे खाली हाथ वापस नहीं कर सकते थे। विशेषकर ब्राह्मणों और कंगालों के लिए उनके द्वार उस समय भी सदा खुले रहते थे।

एक दिन पंडितों और मंत्रीगण के बीच वे राजसभा में बैठे थे। एक दुर्बल और दरिद्र ब्राह्मण वहाँ पर उपस्थित हुए। उनके हाथ में एक पत्थर का टुकड़ा था जिस पर सांकेतिक लिपि में कुछ अंकित था। ब्राह्मण ने पत्थर का वह टुकड़ा राजा के हाथ में दे दिया।

सभा में उपस्थित पंडितों और गुणीजनों के बीच बैठे हुए राजा ने उस सांकेतिक श्लोक को पढ़ा।

कुछ देर बाद ब्राह्मण से उन्होंने कहा, "भगवन्! पत्थर का यह टुकड़ा बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। आपने इसे कहाँ से प्राप्त किया?"

उत्तर मिला, "वाग्सर श्मशान के पास जो जंगल है वहाँ।"

"किसने दिया?"

"एक जटाधारी संन्यासी ने।"

राजा रामकृष्ण अब अधिक धैर्य नहीं रख पाये। उत्तेजित स्वर में बोले, "मुझे सब बात साफ-साफ कहिये, कुछ भी नहीं छिपाइये।"

"महाराज, मैं बड़ा दरिद्र हूँ। स्त्री का भरण-पोषण नहीं कर पा रहा हूँ। जीवन के प्रति धिक्कार का भाव पैदा हो गया था। अतः उस दिन गले में फाँसी लगाकर आत्महत्या करने के लिये जंगल में चला गया था।"

"उसके बाद?"

"ऐसे समय में अकस्मात वहाँ एक संन्यासी का आविर्भाव हुआ। मुझे सांत्वना देकर उन्होंने कहा, राजा रामकृष्ण के पास

इस केत लिपि को लेकर चाओ, तुम्हारी गरीबी दूर हो जायेगी।"

पत्थर पर निम्नलिखित श्लोक अंकित था—

यदुपतेः क्व गंगा मथुरापुरीः।
रघुपतेः क्व गतोत्तर कोशला॥
इति विचिन्त्य कुरूस्व मनः स्थिरं।
न सदिदं जगदित्यवधारय॥

अर्थात्, यदुपति कृष्ण की मथुरापुरी कहाँ गई, रघुपति का उत्तर कौशल भी आज कहाँ है? यह विचार कर तुम अपना मन स्थिर करो और जगत के नश्वरत्व को समझो।

रामकृष्ण सोचने लगे, भ्राता सनातन के लिए प्रेरित मुमुक्षु गोस्वामी की यह संकेत लिपि यहाँ क्यों भेजी गयी?

अविलम्ब उस ब्राह्मण की दरिद्रता को मिटाने का आदेश देकर राजा रामकृष्ण ने सभा भंग कर दी। उस दिन उनकी अद्‌भुत अन्यमनस्कता के कारण सभाजनों ने उनसे और किसी तरह की बात करना उचित नहीं समझा।

श्लोक की प्रत्येक पंक्ति महाराज के हृदय-सागर को आलोड़ित कर रही थी। वैभव और धर्माचरण का यश भी आज उनके समक्ष महत्त्वहीन हो गया था। वे सोचने लगे, "कौन हैं ये शक्तिधर संन्यासी जो इतने दिनों से उनका अनुसरण कर रहे हैं? उनकी दृष्टि दूर तक जाती है, उनका लक्ष्य अभ्रान्त है।"

रामकृष्ण का अध्यात्म-चेतना-युक्त अन्तर हिल उठा। अदृश्य रूप से विचरणशील संन्यासी ने अबतक अपना परिचय नहीं दिया था। कोई उन्हें छू-पकड़ भी नहीं पाता था। उनकी खोज के लिए बहुत लोगों को नियुक्त किया गया लेकिन कोई फल नहीं निकला।

सांसारिक जीवन और सम्पत्ति का बोझ अब असह्य हो उठा।

रामकृष्ण अब प्रायः श्मशानादि में घूमते रहते थे। दिव्य उन्माद की अवस्था में रहा करते थे। रानी भवानी जो इस समय अवसर निकाल कर काशी में बास कर रही थीं। पुत्र का यह समाचार जानकर उनकी दुश्चिन्ता की कोई सीमा नहीं रही। अस्त-व्यस्त सी वे अविलम्ब वहाँ से चल पड़ीं।

रामकृष्ण की दानशीलता और विषय-विरक्ति के कारण भण्डार करीब-करीब शून्य हो गया था। जमीन्दारी का वड़ा भाग इस बीच हाथ से निकल गया था। जो कुछ शेष था उसकी रक्षा नहीं करने पर बड़ी विपत्ति आनेवाली थी। रानी भवानी ने अन्य कोई उपाय नहीं देखकर जमीन्दारी का प्रबन्ध कुछ दिनों के लिए अपने हाथ में ले लिया ?

पुत्र को हर तरह समझाया, घर-संसार एवं धर्म दोनों की रक्षा करके क्या नहीं चला जा सकता ? लेकिन रामकृष्ण को कौन रोक सकता था।

वे बहुत व्याकुल होकर घूमते रहते थे। इसी तरह समय बीतता गया। धीरे-धीरे माँ के साथ उनका प्रवल मतान्तर हो गया। जीवन के जिस बन्धन को तोड़ डालने के लिए वे दृढ़ प्रतिज्ञ थे, रानी भवानी आज उसी की फाँसी रामकृष्ण के गले में डालना चाहती थीं। रामकृष्ण इसे कैसे सहन कर सकते थे।

रामकृष्ण अब यथासंभव माँ से दूर रहने की चेष्टा करते थे। उन्होंने कुछ समय इधर-उधर तीर्थस्थलों का भ्रमण करने में बिताया। एक बार काशीधाम जाकर वाबा विश्वनाथ एवं माँ अन्नपूर्णा से आशीर्वाद भी मांग आये।

उन्हें कभी-कभी बड़नगर के किरीटेश्वरी मंदिर में दिव्य उन्माद की अवस्था में देखा जाता। एक बार भावावेश से प्रमत्त होकर वे दौड़ पड़े भवानीपुर के शक्तिपीठ की ओर।

वे बीच-बीच में तंत्र-साधना के महाकेन्द्र और वशिष्ठ देव की साधना से पवित्र तारापीठ में जाकर साधन-क्रियादि का अनुष्ठान भी किया करते थे।

यहाँ की देवीपूजा के व्यय हेतु इससे पूर्व नाटोर सरकार से देवत्र सम्पत्ति पर्याप्त रूप में दान की गई थी।

इस बार राजा रामकृष्ण तारापीठ के महा श्मशान में जाकर कई दिनों तक मातृध्यान में डूबे रहे। तारापीठ में उस समय सम्पूर्ण पूर्वी भारत के श्रेष्ठ कौलाचार्यगण आते थे। इनलोगों से साधन-निर्देश ग्रहण करने के फलस्वरूप तंत्र-साधना के अनेक निगूढ़ तत्त्वों का ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ।

अन्त में एक शुभ लग्न में शक्ति-साधना की सफलता उनके जीवन में देखी गई। भवानीपुर की पीठस्थली पंचमुण्डी के आसन पर बैठकर इष्टदेवी आद्याशक्ति के साक्षात् दर्शन उन्होंने प्राप्त किये।

भवानीपुर की अपर्णा मूर्त्ति देश-विदेश के तंत्राचार्यों के लिए परमप्रिय थी। इस लिए अनेक समसामयिक विख्यात शक्तिसाधकों का आगमन वहाँ होता रहता था। राजा रामकृष्ण की सिद्धि की बात उनलोगों के द्वारा एक स्वर से स्वीकार की जा रही थी।

भवानीपुर-पीठ में उस बार रामनवमी उत्सव का विपुल समारोह था। राजा रामकृष्ण आडम्बर सहित पूजा सम्पन्न कर रहे थे।

देवी-मूर्त्ति के सभी अंगों पर उस दिन अति मूल्यवान आभूषण शोभायमान थे। राजपुरी की महिलाएँ भी विविध वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर उत्सव में योग देने आयी थीं। हँसी, आनन्द और जगज्जननी की स्तुति से वह उत्सव चतुर्दिक भरपूर था।

अमावस्या की अँधेरी रात में महापूजा का अनुष्ठान सम्पन्न होने होने में अभी कुछ विलम्ब था। राजा रामकृष्ण आज प्रेमानन्द से

मतवाले हो उठे थे। उदात्त स्वर में वे स्वरचित एक गीत गाने लगे :—

संसार में वही पाता है परमानन्द को
जो परमानन्दमयी को जान चुका है।
वह जो तीर्थ-पर्यटन नहीं करता,
किन्तु काली-कथा छोड़ कुछ सुनता नहीं।
वह जो संध्या-पूजा कुछ नहीं मानता,
पर मन में सदा काली-भाव रखता है।
जो मनुष्य काली-चरणों पर होता है अर्पित,
सहज ही वह विषयों से मुक्ति पाता है।
भव सागर में वह पायेगा जिससे किनारा,
उस मूलाधार को कभी खोना नहीं चाहेगा।
रामकृष्ण कहते हैं वह मनुष्य,
लोगों की निन्दा सुन नहीं सकता है।
रात्रि-दिवस आँखों से बहते हुए,
काली-नामामृत पीषूष का पान करता है।

मातृनाम-रस में विभोर राजा रामकृष्ण कोठी-घर की छत पर बैठकर बार-बार यह गीत गा रहे थे। आँखों से अविरल प्रेमाश्रुधारा बह रही थी।

अकस्मात् सामने के वनाँचल से 'हा-रे-रे' की डरावनी आवाज आयी। दुर्द्धर्ष डाकुओं का एक दल इस उत्सव के दिन मंदिर में लूट करने आया था। वे डाकू जानते थे कि उत्सव के दिन मंदिर के सन्दूक में बहुत रुपये जमा होंगे। इसके अलावा, देवी की मूर्त्ति और राजमहिलाओं के आभूषणों का मूल्य भी लाख रुपयों से कम नहीं होगा।

किन्तु यह कैसा विस्मयजनक काण्ड! रात्रि के अंधकार में राजा रामकृष्ण छत के एक कोने में खड़े होकर देख रहे हैं एक

अद्भुत दृश्य। निकट ही वन के सम्मुख डकैतों का दल हाथ में मशाल लेकर एकबार आगे बढ़ रहा है तो एकबार पीछे हट रहा है। लेकिन मंदिर के रक्षकों की संख्या तो अधिक नहीं है! तब कौन इन्हें रोक रहा है? कुछ देर बाद देखा गया कि डकैत लोग वापस चले गये हैं।

डाकुओं के इस आकस्मिक आगमन और वापस लौट जाने का कारण मन्दिर में एकत्र भक्तजन उस दिन समझ नहीं सके।

आनन्द-विह्वल राजा बार-बार गाने लगे—

किसकी स्त्री समरभूमि में विराजमान है,
असुर-समाज में लज्जा रूपा यह
कौन दिगम्बरी है?
माता के पदतल में
मानो कोई तरुण अरुण,
लज्जावश चन्द्रमा छिप गया है।

सिद्ध-साधक राजा रामकृष्ण के कपोलों पर ढुलकते हुए आनन्दाश्रु बह रहे हैं। आज उनका परम सौभाग्य है। माँ जग-ज्जननी की अलौकिक करुणा लीला को उन्होंने आज अपनी आँखों से देखा। दस्युदल का मुकावला करने के लिए माँ ने स्वयं अवतीर्ण होकर भक्तजनों की रक्षा की।

डाकूदल का सरदार दूसरे दिन मंदिर में आया और राजा रामकृष्ण के चरणों पर गिर गया। पिछली रात उसने और उसके साथी डाकुओं ने माँ की अलौकिक लीला देखी थी। लाल जिह्वा वाली रणरंगिनी मूर्त्ति का वह आकस्मिक प्रादुर्भाव उनके स्मृति-पट से हट नहीं सकता।

जितनी ओर से, जितनी बार वे लोग मंदिर पर आक्रमण करते थे, उस असुर-संहारिणी मूर्त्ति के दर्शन से उन्हें मजबूर होकर पीछे

हटना पड़ता था। अन्त में निरूपाय होकर उन्हें भागना पड़ा।

इनलोगों के सरदार का नाम शंकरा था। उत्तरी बंगाल के सर्वाधिक दुर्द्धर्ष डाकुओं के रूप में उस समय उसका दल कुख्यात था।

शंकरा के मुख पर अब आसुरी भाव नहीं रह गया। पाखंडी अब भक्त बन गया। वह बोला, "महाराज, मुझे तो पता था कि केवल कुछ ही लोग मन्दिर की रक्षा कर रहे हैं। इसीलिए लूट करने चला आया था। एक बार भी मन में यह नहीं सोचा कि सब का संहार-पालन करनेवाली जगज्जननी आपकी ओर से लड़ने के लिए आयेंगी। आज पता चला कि आपका आश्रय ही सबसे बड़ा आश्रय है।"

अश्रुदल से उनका हृदय भींग गया। प्रेम से शंकरा को गले लगाकर बोले, "भाई, तुम्हारा सौभाग्य असीम है। स्वयं जगज्जननी को तुमने तलवार पकड़ावा दी, उन्हें यहाँ बुला लिया। तुम्हारा सारा दोष मैं क्षमा करता हूँ। अब से माँ की वन्दना करते हुए आनन्द में अपना जीवन व्यतीत करो।"

उनके प्रभाव से उस डाकू नेता के जीवन में धीरे-धीरे एक अपूर्व रूपान्तर हुआ।

राज-भंडार शून्य हो चला था। लेकिन राजा रामकृष्ण की कीर्त्ति लगातार बढ़ रही थी। उस बार संवाद मिला, बादशाह ने नाटोराधिपति को 'महाराजाधिराज पृथ्वीपति बहादुर' की उपाधि से अलंकृत किया है। बादशाह और इष्ट इण्डिया कम्पनी के प्रतिनिधिगण उस दिन एक महासमारोह में उपाधि-दान हेतु नाटोर पधारे थे। राजधानी में उत्सव समारोह आयोजित था।

मुक्त पुरुष राजा रामकृष्ण निस्पृह थे। राजछत्र और कौपीन उनके लिए समान हो चुके थे। बल्कि इस सुअवसर पर उन्होंने अपना भार और हल्का करने की व्यवस्था की। दीवान को आदेश

दिया, "आनेवाले कई दिनों तक षोडशोपचार के साथ नित्य देवी-पूजा: ब्राह्मण भोजन तथा कंगालों को दान देने की व्यवस्था की जाय।" प्रार्थी लोग खाली हाथ नहीं लौटते थे, इस कारण वे बड़ी संख्या में आने लगे।

बड़े-बड़े परगना एक के बाद एक नीलाम होते जा रहे थे। अर्थ की कमी और रामकृष्ण की उदारता के भार से दीवान तंग आ गये थे।

फिर, एक दिन उसी रहस्मय संन्यासी का आगमन हुआ।

कौन था यह छिपा हुआ परम सुन्दर जो बार-बार रामकृष्ण के अध्यात्म-जीवन को तरंगायित कर अन्तर्धान हो जाता था।

उत्सव की शोभायात्रा में हाथी की पीठ पर सवार होकर वे उस दिन नाटोर के राजपथ से जा रहे थे। एकाएक उन्होंने एक कोने में दिव्यकान्ति एवं तेजःपुंज शरीर एक संन्यासी को देखा।

संन्यासी का संकेत पाकर वे तत्क्षण हाथी पर से उतर गये। क्या ये ही वह अलौकिक पुरुष थे? अन्तस्थल से जैसे आवाज उठी, इसी महात्मा ने उस दिन रात में महाकाली के मन्दिर में उपस्थित होकर उनसे मुक्ति का आह्वान किया था।

ये ही वह कल्याणकामी संन्यासी थे, जिन्होंने कुछ दिन पूर्व पत्थर के टुकड़े पर संकेत लिपि भेजी थी।

किन्तु छिपे रहकर वे क्यों बार-बार इस तरह रामकृष्ण को उद्बुद्ध करना चाहते हैं? इससे उनका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? यह कैसी प्रहेलिका है?

संन्यासी ने इस बार वास्तविक परिचय दिया। उच्च कोटि के साधकों के बीच श्रीजी के नाम से वे विख्यात थे। राजस्थान के बूँदी राजवंश में उनका जन्म हुआ था। युवावस्था में ही राजकुमार के मन में मुक्ति का आह्वान हुआ था। माया के बन्धन तोड़कर

उन्होंने गृहत्याग किया था। इसके बाद एक महायोगी के आश्रय में उन्होंने सिद्धि प्राप्त की।

दोनों उस दिन नगर के पास एक निर्जन स्थान में जाकर बैठे। श्रीजी बहुत देर तक निष्पलक दृष्टि से राजा रामकृष्ण के मुख की ओर देखते रहे। उसके बाद अकस्मात् और निकट आकर उन्होंने राजा के मेरुदण्ड का स्पर्श किया।

रामकृष्ण के शरीर में विद्युत की लहर-सी दौड़ गई। पूर्व जन्म की लुप्त स्मृति मानस-पट पर अंकित हो उठी।

उन्होंने देखा, हरिद्वार के पुण्य क्षेत्र की एक गुफा में वे बैठे हुए थे। गुरू और उनके प्रवीण गुरू भाई सामने ध्यानस्थ थे। ये ही गुरू भाई आज के श्रीजी थे। उस जीवन में ये उनके नित्य साथी थे, उनके अध्यात्म-जीवन के अन्यतम पथ-प्रदर्शक थे।

दोनों तरुण शिष्यों के साधन-जीवन के अन्तस्थल में छिपी हुई थी एक क्षीण भोग-कामना। सद्गुरू की दिव्य दृष्टि को उस दिन वे धोखा नहीं दे सके। प्रारब्ध मिटाने के लिए ही यह दूसरा जन्म हुआ था। श्रीजी बहुत पहले आविर्भूत हुए थे। स्वयं बन्धन मुक्त होकर अब वे बार-बार गुरूभ्राता की मुक्ति के लिए दौड़कर आ रहे थे।

रहस्यमय संन्यासी जिस तरह से आये थे उसी तरह फिर उस दिन अन्तर्धान हो गये।

राजा रामकृष्ण इस बार सब तरह से तैयार हो गये। पत्नी से उन्होंने अन्तिम विदाई ले ली। नाबालिग पुत्रों की रक्षा का भार उन्हें सौंपकर, और नाटोर राज्य की सम्पत्ति तथा सुख को त्यागकर, वे भवानीपुर के पंचमुंडी आसन पर बैठ गये।

अब उनकी चरम साधना शुरू हुई। इससे पहले भी इष्ट देवी ने आशीर्वाद के रूप में उन्हें दर्शन दिये थे। लेकिन हर बार

वे शीघ्र आँखों से ओझल हो जाती थीं। आज रामकृष्ण दृढ़ संकल्प थे—महामाया को सर्वदा के लिए अपनी हृदयवेदी पर स्थापित करके रहेंगे। ज्योतिर्मयी ज्योतिराशि को इस बार उनकी सम्पूर्ण सत्ता को ओत-प्रोत करना होगा।

अमावस्या का घोर अन्धकार व्याप्त था। साधक अपने आसन पर ध्यानमग्न बैठे थे। अकस्मात् पंचमुंडी की साधन कुटी दिव्य ज्योति से आलोकित हो उठी। आद्याशक्ति जगज्जननी उस समय उनके समक्ष आविर्भूत हुई।

देवी बोलीं, "आज मैं आयी हूँ तुम्हें अपना बना लेने के लिए, तुम्हें बिल्कुल आत्मसात करने के लिए। किन्तु बाबा, इससे पहले तुम्हें अन्तिम कार्य सम्पन्न कर लेना होगा। रानी भवानी तुम्हारी माँ हैं, तुम्हारा पालन-पोषण करने वाली माँ। अध्यात्म-जीवन में प्रवेशार्थ दीक्षा भी तुमने उन्हीं से ली थी। उनके साथ तुम्हारा मन-मुटाव हो गया है। इसे मिटाये बिना परम प्राप्ति संभव नहीं है।"

रामकृष्ण ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, "जगज्जननी, तुम्हें तो सब कुछ मालूम है कि माँ मुझसे क्यों नाराज हैं। अब तुम्हीं बोलो, मुझे क्या करना चाहिए।"

"बेटे, तुम्हारी माँ रानी भवानी की इच्छा थी, तुम्हें प्रजा-पालक राजा और महान् साधक दोनों रूपों में देखने की। लेकिन तुम राजत्व को ठोकर मारकर केवल मुक्तिकामी साधक बन बैठे हो। इसी कारण यह मतभेद है। प्रारब्ध का भोग इस बार खण्डित होगा। तुम माँ के पास जाकर उनसे क्षमा की याचना करो। सांसारिक जीवन की सभी इच्छाओं को मिटाकर फिर मेरे पास आ जाओ।"

देवी आद्याशक्ति अन्तर्हित हो गईं।

राजा रामकृष्ण के अन्तर में तुमुल झंझावात जाग उठा। उनके सम्मुख इष्ट देवी महामाया की सुधास्निग्ध भुजाएँ फैल गईं।

किन्तु पहले तो उन्हें सांसारिक जीवन का हिसाब चुकता करना होगा। माँ, रानी भवानी मुर्शिदाबाद के नगर में थीं। आज इसी क्षण उन्हें वहाँ पहुँचना होगा।

कहा जाता है, सिद्ध साधक की अमोघ इच्छा उस समय अविलम्ब और अलौकिक रूप में पूर्ण हो गई। क्षण मात्र उनका सिद्ध शरीर पंचमुण्डी के ध्यानासन से झटके के साथ उठा और बड़-नगर की तरफ चल पड़ा।

सेवक शिष्य भोलानाथ उस समय साधन गृह के द्वार पर पहरा दे रहा था। वह केवल इतना ही सुन पाया, "भोला, कुछ चिन्ता मत करना, मैं इस क्षण माँ के पास दौड़ा हुआ जा रहा हूँ।"

पता नहीं, राजा रामकृष्ण क्षणमात्र में शून्य मार्ग में कहाँ विलीन हो गये। भोला आश्चर्य से मूक होकर खड़ा रहा। /

रामकृष्ण की उस दिन की इस विभूति को दृष्टि में रखते हुए भवानीपुर के शक्तिपीठ में अनेक कल्पनारंजित कहानियाँ प्रचारित हो गईं। कोई कहने लगा, महाराज सशरीर कैलासधाम गये हैं, तो कोई अन्य व्यक्ति बोलने लगा, अष्टसिद्धि-प्राप्त महापुरुष अपनी अलौकिक शक्तिलीला का प्रदर्शन करते हुए आकाश में बिहार कर रहे हैं।

किन्तु इसके बाद संवाद मिला, महाराज रामकृष्ण का शरीर उस दिन रात में भवानीपुर से बहुत दूर पाकुड़िया अंचल के एक पुल के सम्मुख गिर पड़ा। उस अँधेरी रात में, इतने कम समय में, वे पाकुड़िया तक की दूरी कैसे तय कर सके, यह रहस्य कोई नहीं जान सका।

पाकुड़िया में नाटोर के गुरुवंशीय ब्राह्मण निवास करते थे। संवाद मिलते ही वे दौड़कर आये यत्नपूर्वक उनलोगों ने राजा राम-कृष्ण को पालकी पर बैठाकर रानी भवानी के पास पहुँचा दिया।

माता और पुत्र का उस दिन का मिलन बड़ा ही प्राणस्पर्शी था। माता के निकट प्रेम और क्षमा प्राप्त कर राजा रामकृष्ण के जीवनी में एक नव रूपान्तर उपस्थित हुआ। परम प्राप्ति का समय अब आ गया था।

बड़नगर के गंगातट पर तीन रात बिताने के बाद राजा रामकृष्ण ने मानो अन्तिम रूप से जननी आद्याशक्ति के दर्शन प्राप्त किये। उनकी सम्पूर्ण सत्ता मातृमयी हो उठी।

अन्तिम साँस का त्याग करने में अब अधिक देर नहीं थी। आप्तकाम साधक इस समय परमानन्द में स्फुट स्वर से गाने लगे—

मेरा मन यदि भूले,
तो मृत्युशय्या पर काली का नामामृत,
पहुँचा देना मेरे कानों में।
यह शरीर अपना नहीं है,
दुश्मन के साथ चला है।
लाओ हे भोला! जप की माला,
विलीन हो जाऊँ गंगाजल में।

उत्तर साधक भोलानाथ उनके कानों में बार-बार मातृनाम-सुधा पहुँचा रहा था। इष्ट क्षण में रामकृष्ण के हाथ की जपमाल सर्वदा के लिए स्थिर हो गई।

आप्तकाम महासाधक की सर्वसत्ता जगज्जननी के ज्योतिसागर में एकाकार हो गई।

१७९५ खृष्टाब्द में तंत्रसाधना के क्षेत्र में बंगाल के इस दिक्-पाल पुरुष का देहावसान हो गया।

काष्ठ-जिह्वा स्वामी

गहन अरण्य में एक अति प्राचीन देवस्थान अवस्थित है। अश्वत्थ तथा बट की अनेक शाखाएँ उसके भीतर उग आयी हैं। इसके कारण अनेक बड़े-बड़े पत्थर भी खिसक गये हैं। चारों तरफ यह काँटों तथा जंगलों से भर गया है। देखते ही यह भान होता है कि काफी दिनों से कोई मनुष्य इधर आया ही नहीं, किन्तु कुमार महीप नारायण को उस दिन प्राणों के भय के कारण इधर आना पड़ गया है।

मात्र कुछेक दिन पहले उन्होंने अपने को इस दुर्गम वन प्रान्तर में छिपा रखा है। परन्तु ऐसा लगता है कि मानो एक युग ही बीत चुका है।

महीप नारायण के स्मृतिपटल पर बार-बार रामनगर के प्रासाद-जीवन की स्मृति प्रगट हो पड़ती है। कितने विलास-वैभव तथा शोर-शराबे के बीच वहाँ जीवन व्यतीत होता रहा है। बारबार मातामह, महाराज बलवन्त सिंह की आकृति उनके मानस पटल पर अङ्कित हो उठती है। महीप नारायण, बलवन्त सिंह की आदरणीया कन्या की एकमात्र संतान हैं। बचपन से ही कितने ममत्व

तथा लाड़ से वृद्ध महाराज ने उनका पोषण किया है। उन सारे दिनों की सुखद स्मृतियों की याद आज स्वप्न-जैसी वनवासी तथा निर्बान्धव महीप नारायण को स्मरण हो रही हैं।

कुछेक वर्ष पूर्व ही बलवंत सिंह जी का स्वर्गवास हुआ है। उसके बाद से ही काशिराज की गद्दी के लिए झगड़े शुरु हो गये हैं। चेत सिंह और महीप नारायण दोनों प्रतिद्वन्द्वी, कोई भी अपना अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं है। साथ ही महीप नारायण नितान्त अल्प वयस के तथा सर्वथा अनभिज्ञ हैं। वे किस तरह चेत सिंह से लोहा ले सकेंगे ? सत्ता लोलुप वारेन हेस्टिंगज को वश में करके चेत सिंह पहले ही गद्दी दखल कर चुके हैं। उसके बाद उसके साथ झगड़ा करके उन्हें गद्दी छोड़ने को भी बाध्य होना पड़ा है।

शिवाला दुर्ग के संघर्ष के बाद अंग्रजी सेना के अवरोध से निकल कर चेत सिंह नाटकीय रूप से गंगा में कूद पड़े हैं तथा माधोजी सिंधिया के आश्रय में चले गये हैं। उसका घटना के बाद वारेन हेस्टिंगज क्रोध से उन्मत्त हो उठा और काशी के राजदरबार को दण्ड देने के लिए प्रस्तुत हो गया।

एक दिन अकस्मात् दूत के माध्यम से महीप नारायण ने संदेश पाया कि वारेन हेस्टिंगज उनकी काफी जोर-शोर से तलाश कर रहा है।

महीप नारायण बहुत घबरा गये। क्या हेस्टिंगज उन्हें बन्दी बनाना चाहता है ! क्या चेत सिंह पर कुपित होकर वह तरुण राज दौहित्र से प्रतिशोध लेना चाहता है ?

उसी दिन वे राज प्रासाद से पलायित होकर इस दुर्गम अरण्य की ओर चले आये। कई दिनों से वे इस पुराने भग्न मंदिर में अपने को छिपाये हुए हैं।

परन्तु आज उनका चित्त और भी चंचल हो उठा है। कुछ ही देर पहले खास मुंशी कुन्दनलाल गुप्त रूप से उनसे साक्षात्कार करने के लिए रामनगर से आये हुए थे। वे बाजार में फैली अफवाह सुना गयें थे कि हेस्टिंगज ने एलान किया है कि चाहे जैसे भी हो महीप नारायण को उसे ढूंढ़ना ही है। रामनगर प्रासाद में सभी आतंकित होकर सोच रहे हैं कि संभवतः काशी राज्य के किसी भी उत्तराधिकारी को अंग्रेज जीवित नहीं छोड़ना चाहता।

महीप नारायण की चिंता की कोई सीमा नहीं है। अंत में क्या पकड़े जाकर कुस्तानों द्वारा फाँसी पाना ही नियति में है? हेस्टिंगज की जोरदार तलाश की बात नित्य उनके कानों में पड़ रही है। कौन जाने कब उसके गण यहाँ भी पहुँच जायँ? यहाँ पर भी अधिक दिनों तक रुकना उचित नहीं है। इस प्राचीन जीर्ण मंदिर का त्याग करके महीप नारायण घोर जंगल में प्रविष्ट हो गये।

लगभग एक कोस चलने के बाद अकस्मात् उनकी दृष्ठि एक वट वृक्ष के नीचे पड़ी। एक वृद्ध सन्यासी धुनी जलाकर व्याघ्र चर्म के ऊपर ध्यानस्थ बैठे हुए हैं। आयु अधिक होनें पर भी शरीर अभी भी स्वस्थ तथा सुन्दर है। सिर पर दीर्घ जटाओं का भार है. ध्याननिमीलित नेत्रों के साथ ये निश्चल बैठे हुए हैं। भान होता है कि शरीर में प्राणस्पन्दन के भी चिह्न नहीं हैं।

महीप नारायण चौंक कर खड़ हो गये। हिंस्र जन्तुओं और दुर्गम वन प्रान्त में अनन्य निष्ठा से बैठ कर साधना में लीन ये संन्यासी कौन हैं? भाग्यवश जब इनके दर्शन का सौभाग्य मिल ही गया तो एक बार इनका आशीर्वाद लेकर ही आगे बढ़ना उचित होगा।

महीप नारायण का जीवन आज चरम संकट में पड़ा हुआ है। इस संकट की स्थिति से मुक्ति के लिए किसी योगविभूति संपन्न

साधक की सहायता के अलावा अन्य कोई आशा भी नहीं दीख रही है। वे सन्यासी की धुनी के पास जाकर नीरव प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर के बाद महात्मा ने आँखें खोलीं। महीप नारायण के भक्तिपूर्वक प्रणाम निवेदित करते ही वे कह उठे, "बेटा, कुछ चिंता मत करो। अंग्रेजों से काहे डरते हो? तुम्हारे लिए फाँसी का फन्दा नहीं, राजमुकुट ध्रुव निश्चित है। कल ही तुम उनसे मिलो।"

महीप नारायण विस्मय से हतवाक हो उठे। ये संन्यासी क्या अंतर्यामी हैं? वारेन हेस्टिंग्ज जो उनको जगह-जगह खोजता फिर रहा है और वे लुकते-छिपते भाग रहे हैं, ये बातें भी इनसे अज्ञात नहीं है।

परन्तु हृदय से भय नहीं निकल पा रहा है। सोच रहे हैं कि संन्यासी की बात मानकर अनायास प्राणों पर संकट तो नहीं आ जायगा? चेत सिंह के विद्रोह की तिक्त स्मृति अंग्रेजों क हृदय से इतनी जल्दी तो नहीं निकल पायी होगी। वारेन हेस्टिंग्ज ने उनके नाम बुलावा भेजा है, यथार्थतः उसका उद्देश्य क्या है? क्या यह सादर आमंत्रण है या केवल फाँसी का फन्दा?

संन्यासी समझ गये कि महीप नारायण घोर संशय में पड़े हुए हैं। मुस्कराते हुए उन्होंने जो कहा, उसका सारांश : देखो बेटा, तुम्हारे भविष्य का दृश्य अनायास ही मेरे मानस पटल पर अंकित हो उठा है। योगी का यह अतीन्द्रिय दर्शन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। तुम कल ही अंग्रजी राज्य के प्रतिनिधि के स्थान पर चले जाओ। इससे ही तुम्हार भला होगा।

महीप नारायण अबतक अपना कर्त्तव्य स्थिर कर चुके थे। संन्यासी क चरणों में भक्तिपूर्वक प्रणाय निवेदित करक वे उसी दिन रामनगरके राजप्रासाद में वापस चले गये।

दूसरे ही दिन वारेन हेस्टिंगज के पास उपस्थित होते ही जो

आदर एवं सम्मान उन्हें मिला, वह उनकी कल्पना से परे था। इसके अलावा अंग्रेजों के प्रधान ने अपना मन्तव्य प्रकट किया कि उन्होंने तय कर लिया है कि पलायित चेत सिंह के स्थान पर महीप नारायण को ही काशी का राजसिंहासन प्रदान करेंगे। काशी नगर तथा कुछ और क्षेत्रों को छोड़ कर चेत सिंह के संपूर्ण राज के मालिक वे ही होंगे।

वारेन हेस्टिंगस् ने उन्हें बताया कि कम्पनी काशीराज राज्य में स्थायी शांति स्थापनार्थ बहुत व्यग्र है। उनकी एक मात्र इच्छा यही है कि महाराजा बलवन्त सिंह के किसी उपयुक्त उत्तराधिकारी को गद्दी पर बैठाया जाय, जिससे स्थानीय लोगों का असंतोष दूर हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बलवन्त सिंह के किशोर दोहित्र महीप नारायण को इतने जोर-शोर से तलाश की जा रही थी।

इतनी नाटकीयता के बाद १७८२ ई० में एक दिन प्रभात की मंगल बेला में महीप नारायण काशीराज के अधीश्वर के रूप में अभिषिक्त हुए।

आनंद तथा समारोहों में ही कई दिन व्यतीत हो गये। उसके बाद कृतज्ञतावश उन्हें अरण्यवासी उन वृद्ध तपस्वी की बात स्मरण हो आयी।

काशी में कई क्षेत्रों में अनुसंधान करने पर उनका वास्तविक परिचय ज्ञात हो सका। उत्तर भारत के साधु समाज में वे महात्मा आत्माराम तीर्थ के नाम से परिचित थे। वे महाशक्तिधर थे, उनकी कृपाप्राप्त शिष्य मण्डली में अनेक तितिक्षावान और ज्ञानी दण्डी स्वामी थे। तीर्थ क्षेत्र के जन-कोलाहल से दूर, वे काफी लम्बी अवधि से उस गहन वन में कठोर तपस्या में निरत थे।

हाथी, घोड़ा तथा लाव-लश्कर साथ लेकर महाराज महीप-नारायण उस विजन वनभूमि में उपस्थित हुए। महात्मा के चरणों में

भक्तिपूर्वक प्रणाम करके उन्होंने कहा—"महाराज, आपके श्रीमुख की वाणी सत्य हुई। अंग्रेजी कम्पनी ने मुझे राजगद्दी पर अधीष्ठित कर दिया है। उस दिन आपका निर्देश नहीं पाने पर मुझे सर्वदा के लिए उस असहाय अवस्था में छिप कर ही रहना होता। इसीलिए आज अपनी आंतरिक कृतज्ञता का ज्ञापन करने यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। साथ ही आपका आशीर्वाद तथा परमाश्रय पाने का भी इच्छुक हूँ।"

महीप नारायण ने हठ पकड़ लिया कि वे वृद्ध महात्मा से ही मंत्र दीक्षा लेंगे, तथा उन्हींके आश्रित होकर राज्य का गुरुभार वहन करेंगे।

महात्मा ने गंभीर स्वर में कहा, "यह क्या बचपने की बात तुम कर रहे हो, वेटा? मैं अरण्यवासी तपस्वी हूँ। दीक्षा-दान के झमेले में मैं अपने को क्यों फँसाऊँगा? इसके अलावा, वेटा, मैं कभी किसी गृहस्थ मनुष्य को दीक्षा देता भी नहीं। फिर तुम्हारे जैसे राजे-महाराजे तो प्रवृत्तिमार्ग के लोग होते हैं। दीक्षा दान के मामले में मैं वहुत कठोरता से नियमों का पालन करता हूँ। साधु समाज में सभी इस बात से परिचित हैं।"

परन्तु महीप नारायण को समझाना बहुत कठिन हो गया। वे इन वृद्ध सन्नासी के चरणों में बार-ब्रार आते रहे। वार-बार करुण स्वर से विनती करते रहे, "प्रभु, आपकी कृपाधन दिव्य दृष्टि ने ही मुझे राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया है। इसी दिव्य दृष्टि के ही आश्रय में मैं सदा जीवन काट देना चाहता हूँ। मुझ पर कृपा करनी ही होगी अन्यथा मेरा यह जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। कहते-कहते किशोर महाराज का वक्ष अश्रुजल से भींग जाता।

परन्तु महात्मा को वह विचलित नहीं ही कर सके। वे प्रस्तरकी मूर्त्ति की तरह अटल और अचल बैठे रहते। इतनी विनती तथा क्रन्दन से भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सका।

हताश होकर महाराज राजाप्रासाद में वापस आये। परन्तु दीक्षा ग्रहण के संकल्प का उन्होंने सर्वथा त्याग नहीं किया। ठीक है, अगर महात्मा किसी तरह दीक्षा देने को राजी नहीं हैं तब उनकी मण्डली के किसी विख्यात साधक तथा उन्हीं के किसी अंतरंग शिष्य को महीप नारायण गुरु के रूप में वरण करेंगे।

× × × ×

जानकारी करने पर ज्ञात हुआ कि इन महात्मा के अंतरंग तथा श्रेष्ठ शिष्य हैं, दण्डी स्वामी देवतीर्थ। सारे उत्तर भारत में उन दिनों अपराजेय महावेदान्तिक के रूप में उनकी प्रसिद्धि थी। विस्मयकर मेधा, प्रतिभा एवं तर्कशक्ति के वे अधिकारी थे। परन्तु अपनी इस शक्ति को वे विद्या मद में मत्त होकर सर्वदा बिना किसी विचार के ही प्रयोग करते। अवसर मिलते ही वे विशिष्ट सन्यासी एवं आचार्यों का तर्कयुद्ध के लिए आवाहन करते और उन्हें अनायास ही पराजित कर डालते। दण्डी स्वामी देवतीर्थ का यही आमोद-प्रमोद के लिए व्यसन विशेष था।

देवतीर्थ स्वामी के शास्त्रार्थ की बात अनायास गुरु महाराज के कानों में पड़ी। उन्होंने एक दिन उन्हें अपने पास बुला कर कहा "देवतीर्थ, तुम आत्मज्ञानी संन्यासी बनने के मार्ग से च्युत होकर अंत में डाकू बन गये हो? इस तरह साधु-सन्त तथा भागवत्-रसिक आचार्यगणों को अनर्थक घायल करते जा रहे हो? यह तो महापाप है।"

उसी दिन उन्होंने अपने प्रिय शिष्य की जिह्वा रुद्ध कर डाली। तेज छुरी लेकर अपने हाथों ही उन्होंने शिष्य की जिह्वा का अग्रभाग काट डाला। उसके बाद कटी हुई जीभ में उन्होंने एक काष्ट निर्मित जीभ का अंश जोड़ डाला। उसी समय से दण्डी स्वामी देवतीर्थ, जन साधारण में काष्ठजिह्वा स्वामी के नाम से परिचित

हो गये। उसके बाद से वे एकदम मौन ही हो गये। किसी के साथ तर्कयुद्ध में अवतीर्ण होना तो दूर की बात, वे बिलकुल ही मौन हो गये। फिर क्रमशः वे गंभीर तपस्या में निमग्न हो गये। महा-तार्किक वेदान्ती का अनायास ही रूपान्तर हो गया।

महाराज महीप नारायण ने काफी जांच-पड़ताल के बाद अंत में यही निश्चय किया कि वे इन्हीं काष्ठजिह्वा स्वामी का गुरु रूप में वरण करेंगे। फिर एक दिन वड़ी आशा लेकर इन मौनी आचार्य के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उनसे चरणाश्रय तथा मंत्रदीक्षा की याचना की।

परन्तु उन्हें भी राजी करना कोई साधारण कार्य नहीं था। मौनी दण्डी स्वामी ने कमरे के भीतर खड़िया से लिखकर यह बत-लाया कि बहिरंग जीवन के सारे संपर्क उन्होंने तोड़ डाले हैं तथा केवल अध्यात्म साधना में ही निमग्न रहने का उनका संकल्प है। इसलिए किसी का आचार्य बनने की मनोवृत्ति अथवा रुचि उन्हें नहीं है।

महाराज महीप नारायण फूट पड़े। व्याकुल होकर उन्होंने कहा, "प्रभु आपके गुरु महाराज ने मुझे वापस लौटा दिया है। आप उनके पुत्र-स्वरुप शिष्य है। इसीलिए अबकी मैंने संकल्प कर लिया है कि या तो आपसे दीक्षामंत्र लाभ करूँगा या गंगागर्भ में अपना यह पापी शरीर विसर्जित कर डालूंगा।"

यह विलाप तथा आर्त प्रार्थना मानों रुकने को ही नहीं है।

अंततः काष्टजिह्वा स्वामी का अंतर करुणार्द्र हो उठा। महाराज को शांत करके उन्होंने आश्वासन दिया कि उन्हें वे शिष्य रूप में ग्रहण करेंगे।

कई दिन बाद की बात है, काष्ठजिह्वा स्वामी अपने गुरुदेव के चरण दर्शन हेतु उनके घोर जंगल में अवस्थित निवास पर आये।

साधन-भजन से संबन्धित निर्देशादि लेने के बाद उन्होंने निवेदन किया : "काशी के महाराज बड़े ही सज्जन तथा भक्त हैं। मैंने वचन दे दिया है कि मैं उन्हें दीक्षा दान करूँगा। इस कार्य के लिए आपके अनुमति की अपेक्षा है।

वृद्ध महात्मा रोषपूर्वक गरज पड़े। कहा, "देवतीर्थ! यह तुम क्या कह रहे हो? आखिर दीक्षा भी दोगे तो गृहस्थ को—भोग विलास के पंक में निमज्जित इस राजा को? सर्वत्यागी, निवृत्ति-मार्गी संन्यासी होकर तुम्हारी ऐसी जघन्य प्रवृत्ति हो गयी? इस दीक्षा दान के बाद तुम पतित होओगे।"

काष्ठजिह्वा स्वामी ने निवेदन किया, "प्रभु, आपकी सारी बातें अक्षरशः सत्य हैं। परन्तु राजा की आर्त पुकार तथा रुदन देखकर मेरा हृदय विगलित हो उठा था। मैं उनको वचन जो दे चुका हूँ। उसकी रक्षा न करने से असत्य भाषण का दोष मुझपर पड़ेगा। यह भी तो एक महापाप है।"

गुरु ने संक्षेप में ही अपना मत प्रकट किया, 'ठीक है बेटा, जब तुम वचन दे ही चुके हो तो उसकी रक्षा अवश्य करो।

अब काष्ठजिह्वा स्वामी रोते हुए गुरु के चरणों में गिर पड़े। गृहस्थ तथा भोगपरायण राजा को मंत्र प्रदान करके जिस पाप का वे अर्जन करेंगे, उसका प्रायश्चित क्या होगा? इस पाप से उद्धार के लिए गुरु महाराज जो व्यवस्था देंगे, उसको वे शिरोधार्य करेंगे।

गुरु महाराज क्षण भर सोचते रहे। उसके बाद धीरस्वर में उन्होंने कहा, "बेटा देवतीर्थ, राजा महीप नारायण के दीक्षा दान के संदर्भ में तुम्हारी करुणा अवश्य रही है, परन्तु तुम्हारे अंतर्मन में इसके अलावा तुम्हारा सूक्ष्म अहं भी था। मन के गोपन स्तर में अब-चेतन अवस्था में, आचार्यगिरी की इच्छा भी छिपी हुई है। प्रायश्चित करके उसके मूल को सर्वथा विनष्ट कर डालो। प्रायश्चित्त की विधि मैं बताता हूँ। अपने गले में एक काष्टफलक बांध डालो। उस

पर लिख डाली—"आप लोग हमसे सुन लीजिए—दण्डी स्वामी देवतीर्थ पतित है। काशी धाम में जितने भी मठ-मंदिर, अखाड़े इत्यादि हैं, सभी स्थानों पर जाकर दीन वेश में खड़े हो जाओ, नत-मस्तक होकर, जिससे सभी के सामने तुम्हारी पाप-कहानी प्रकाश में आये और उस पाप का मार्जन हो।"

वाराणसी के राजपथ, गंगा के घाटों, मंदिर तथा सभागृहों में उस दिन एक अभूतपूर्व दृश्य दिखलाई पड़ा।

दुर्धर्ष तर्कशूर, महावेदान्ती देवतीर्थ की मात्र जिह्वा-कर्तन करके तथा उन्हें काष्ठजिह्वा स्वामी के नाम से संबोधित कराकर भी उनके गुरु महाराज शांत नहीं हुए। आज फिर उन्हें जन साधारण के समक्ष भेज रहे हैं, उनके पातित्य की उन्हीं के द्वारा घोषणा करवाने।

सर्वजन श्रद्धेय महापुरुष, प्रतापवान काशिराज के गुरु, काष्ठजिह्वा स्वामी की आज यह क्या दुर्दशा है? सभी कानाफूसी कर रहे हैं कि उनका यह कौन-सा गंभीर अपराध है?

संन्यास धर्म के निष्कलंक, त्यागपूत, महान आदर्श को काष्ठ जिह्वा स्वामी के इस प्रायश्चित ने काशी के दण्डी समाज एवं साधु-संतों के सम्मुख एक उच्च स्तर पर स्थापित किया।

उनका पाप और कलंक क्या था? मात्र इतना ही कि दण्डी स्वामी होकर तथा सारे माया-मोह को छिन्न-भिन्न करने का संकल्प लेकर भी उन्होंने गृही तथा भोगी राजा को दीक्षा-मंत्र दान किया था। इसी के फलस्वरुप चरम पातित्य का दोष आ गया था।

निर्दिष्ट प्रायश्चित्त के समापनोपरान्त काष्ठजिह्वा स्वामी हाथ जोड़ कर गुरु के समक्ष उपस्थित हुए।

गंभीर स्वर में गुरु ने कहा, "बेटा, पाप के प्रायश्चित स्वरुप जो भी तुमने किया उससे केवल तुम्हारा ही उपकार होगा, ऐसा नहीं है। इससे दण्डी समाज के सम्मुख भी काफी दीर्घ अवधि तक संन्यास

की पवित्र पताका लहराती रहेगी। आदर्श भ्रष्ट करने का विचार रखनेवाले भी सिर नीचा किए तथा सशंकित रहेंगे। परन्तु बेटा, अभी भी तुम्हारा प्रायश्चित्त पूर्ण होने में थोड़ी कसर रह गयी।"

अब किस नये प्रायश्चित्त की बात गुरु करना चाहते हैं? काष्ठजिह्वा स्वामी चिंतित होकर गुरु की ओर देखने लगे।

शांत स्वर में वृद्ध महात्मा ने कहा, "बेटा, तुम काष्टफलक गले बांध कर सारे वाराणसी के पथ, घाटों और मंदिरों पर घूम चुके हो। परन्तु इस फलक पर जो भी लिखा है वह शीघ्र ही जन-साधारण को विस्मृत हो जायगी। इस लेख को तुम प्रचुर स्थायित्व प्रदान कर डालो। विश्वनाथ मंदिर के प्रस्तर निर्मित द्वार पर इसे उत्कीर्ण कर डालो।"

अब दण्डी स्वामी विश्वनाथ मंदिर के तोरण द्वार पर आकर उपस्थित हुए। हाथ में वे एक तीक्षण छेनी लिए हुए थे। अपने पातित्य की स्वीकृति तथा भ्रष्टादर्श की कलंकमय कथा को छेनी द्वारा प्राचीर के अग्रभाग पर खोद डाला। उन्होंने लिखा—"देवतीर्थ नामे दण्डी पतित है।"

इतने दीर्घकाल के व्यवधान के बाद आज भी मंदिर के लाखों दर्शनार्थी कुतूहलपूर्वक इस प्रायश्चित्तकामी आचार्य की हस्तलिपि देख जाते हैं। फाटक के प्रवेश-द्वार की बायीं तरफ के पाषाण प्राचीर पर, साढ़े ६ फुट की उंचाई पर, देवनागरी अक्षरों में यह ऐतिहासिक लेख आज भी अगणित मनुष्यों का हृदय आलोड़ित कर देता है। ब्रह्मचारी संन्यासी एवं ब्रह्माभ्यासा हर प्रकार के सधकों के मानस पर यह नये सिरे से भारतीय संन्यास धर्म एवं आध्यात्मिक जीवन के शुचि-शुभ्र महान आदर्शों को स्थापित कर देता है।

महायोगी गोरखनाथ

शिव चतुर्दशी की अंधकारमय रात्रि। पशुपतिनाथ के मंदिर में उस दिन विराट समारोह है। केवल नेपाली भक्तों के दल-के-दल वहाँ नहीं उपस्थित हो रहे हैं वरन् सारे भारत के दिग्दिगन्त से अनेक शिव भक्त, नरनारी तथा संन्यासी एवं कौल साधकों के दल चले आ रहे हैं। संपूर्ण मेला क्षेत्र में सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश है। मंदिर के गर्भगृह में प्रत्येक प्रहर में पूजा-अर्चना एवं स्तव-गान जारी है। देवाधिदेव की जय हो—ध्वनि से आकाश तथा नभमंडल मुखर हो उठा है।

कौल अवधूत मत्स्येन्द्र नाथ अपने कई अंतरंग शिष्यों तथा सेवकों के साथ मंदिर में आकर बैठे हुए हैं। रात्रि अवसान प्रायः है। ध्यान तथा जप की समाप्ति पर वे पशुपतिनाथ के मस्तक पर बिल्वपत्र चढ़ाकर प्रणाम करेंगे। ऐसे ही समय में उनके मानस-चक्षुओं के सम्मुख एक अलौकिक दृश्य उपस्थित हो गया। भस्माच्छादित वह्नि-जैसा वह कौन नवीन योगी है? नतशिर होकर वह बार-बार उन्हें प्रणाम कर रहा है तथा उनसे आश्रय की भिक्षा मांग रहा है।

उनके अंत· में कुतूहल का उदय हुआ। बार-बार यही प्रश्न उठने लगा कि कौन यह निर्दिष्ट साधक है, जिसका भार परम शिव-मत्स्येन्द्रनाथ पर न्यस्त करना चाह रहे हैं? उसका निवास कहाँ है, तथा उससे किस तरह साक्षात्कार हो सकेगा?

बार-बार मन में यही बात उठने लगी कि यह तरुण स्वयं देवाधिदेव द्वारा ही प्ररित है। जैसे वह उनके निकटतम व्यक्तियों में से है तथा उनके तपस्यामय जीवन का परमधन है। अविलम्ब निर्देश भी मिल गया। मत्स्येन्द्र नाथ ने अस्फुट देववाणी का श्रवण किया—"वत्स, मेरा दर्शन करके वह तुम्हारे ही संधान में रवाना हो चुका है। अरण्य-पथ पकड़ कर, क्लान्त शरीर वह तुम्हारे आश्रम की खोज में ही भटक रहा है। तुम जल्दी ही वापस चले जाओ तथा उसे बुलाकर अंगीकार करो। यह साधक तुम्हारी परिपाटी का श्रेष्ठतम धारक तथा वाहक होगा। अगणित नर-नारियों को निगूढ़ योग-साधना का वह पथ निर्देश देगा।

भक्तिपूर्वक मत्स्येन्द्रनाथ ने विग्रह को प्रणाम निवेदित किया तथा जल्दी-जल्दी आश्रम की ओर लौट पड़े। सेवकों को उन्होंने निर्देश दिया, "निकट ही जंगल के भीतर एक सुन्दर, सुगठित, तेजोदीप्त युवक तुम्हें दिखलायी पड़ेगा। संभवतः वह रास्ता भूल गया है। यहाँ का परिचय देकर अभी उसे मेरे पास लेते आओ।"

थोड़ी देर बाद ही युवक को आश्रम में उपस्थित किया गया। मौलश्री के नीचे सिद्धपीठ के आसन पर मत्स्येन्द्रनाथ आसीन थे। दिव्य क्रांति तथा दीर्घवपु महापुरुष का सारा शरीर भस्माच्छादित था। सिर पर जटाओं का भार तथा गले मैं नाद, सेल्मी और सिंगा वे धारण किये हुए थे। हाथों में रुद्राक्ष की माला थी तथा शरीर पर कौपीन। बगल में लिटाया हुआ था सिंदूर-पुता हुआ त्रिशूल, अदारि तथा खर्पर।

महायोगी का दर्शन करते ही युवक विस्मय तथा श्रद्धा से अभिभूत हो उठा। पूर्वानुभूति के कारण उसका सारा मन-प्राण तृप्त हो उठा। भावावेग से सारे शरीर में कम्पन होने लगा :

साष्टांग प्रणाम करके, हाथ जोड़ कर उसने निवेदन किया "प्रभु, आपका दर्शन पाकर आज मेरा जीवन धन्य हो गया। इतना सफर तय करके मैं अंतर में दो आशाएँ लेकर आ रहा हूँ। शिव चतुर्दशी को पशुपतिनाथ के मस्तक पर बिल्वपत्र चढ़ाऊँगा तथा महाकौल मत्स्येन्द्र नाथ के चरणों में आश्रय लेकर अपनी साधना आरंभ करूँगा।"

"परन्तु वत्स, इतने लोगों के रहते हुए, तुमने मेरे पास आने का निश्चय क्यों कर किया ?" प्रसन्न मधुर स्वर में मत्स्येन्द्रनाथ जी ने कहा।

"कौल ज्ञान निर्णय' के रचयिता के रूप में आपकी ख्याति को सारे भारत में कौन नहीं जानता ? इसके अलावा, विख्यात साधकों के मुख से मैंने सुना है कि योग तथा तंत्र-साधना की युग्म रश्मियों को आप अनायास ही धारण किए हुए हैं। मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे दीक्षा दान करें।"

आशीर्वाद देकर मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा, "वत्स, देवाधिदेव का अनुग्रह तुम पर है। तुम उनके द्वारा निर्दिष्ट साधक हो। प्रभु पशुपतिनाथ का इंगित पाकर ही तो मैं यहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। तुम्हारी मनोकामना सिद्ध होगी। लग्न उपस्थित है, जल्दी से योगमती में स्नान करके आओ। आज ही, अभी, मैं तुम्हें योग-दीक्षा दूंगा।"

विभूति स्नान शेष करने के बाद युवक हाथ जोड़ उपस्थित हुआ। गुरु ने परम स्नेहपूर्वक उसके शरीर पर गेरुआ कौपीन तथा वहिर्वास डाल दिया। सारे शरीर पर भस्म का लेपन करने के बाद उन्होंने ललाट पर त्रिपुंड चिह्न अंकित किया। उप-

वीत में 'सिःनाद' एवं 'पवित्री' बाँध कर उन्होंने नवदीक्षित शिष्य के हाथों में सिद्धिप्रद, परम पवित्र माला दी। प्रसन्न स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स, हिंगलाज तीर्थ से सर्व अभीष्टप्रद, ठुमरा एवं आशा-पुरी का इस माला के लिए मैंने संग्रह किया था। तुम इसे ग्रहण करो। शिव-पार्वती की कृपा का तुम्हारे ऊपर निरंतर वर्षण होता रहे।"

इसके बाद, मत्स्येन्द्रनाथ ने नवीन शिष्य को योगदीक्षा एवं निगूढ़ साधन-पद्धति का दान करके शिष्य का नामकरण किया—गोरक्षनाथ। यही नाम बाद में जनसाधारण के मुख से गोरखनाथ में परिवर्तित हो उठा।

उत्तर काल में भारतीय जन-जीवन के समक्ष गोरखनाथ अपरिमेय योग-विभूति के अधिकारी एक महासाधक के रूप में आविर्भूत हुए। लाखों भक्तों के हृदय-मंदिर में शिवावतार के रूप में दिग-दिगंत में पूजित हुए।

इस देश के अध्यात्म जीवन के आचार्य शंकर के अभ्युदय के कई सौ वर्ष पश्चात तक ऐसे विराट पुरुष का साक्षात नहीं मिला था।

साधन ऐश्वर्य के साथ योगीराज गोरखनाथ के जीवन में अपूर्व व्यक्तित्व और संगठन शक्ति का सामंजस्य था। इसी कारण अल्प-काल में ही वे आदिनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ की योग गोष्ठी का पुनर्गठन करने में सक्षम हो सके थे, तथा नूतन प्रेरणा और मार्ग-दर्शन देकर उसे उद्बुद्ध कर सके थे। उनके आश्रित साधक और संन्यासियों का दल उत्तर भारत के सारे तीर्थ एवं जनपदों में फैल गया और कनफटा योगियों के नाम से परिचित हो उठा।

इन योगी साधकों की तपस्या और ऋद्धि-सिद्धि का प्रभाव भारत के दूर-दूर के क्षेत्रों में यहाँ तक कि भारत के बाहर भी, व्याप्त था—इसके प्रमाण मिलते हैं। इन साधकों के बहुत से केन्द्र स्थापित

हो गये—जैसे पूर्वाञ्चल में कामरूप, उत्तर में नेपाल, गोरखपुर एवं वाराणसी, पश्चिम में धिनोधर एवं हिंगलाज। दक्षिण मलयालम-भाषी योगी-गुरुकुल में भी नाथ-साधना का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सुदूर ईरान, अरब एवं रूस में भी इन नाथ योगियों का पदार्पण हुआ था, ऐसा भी विश्वास किया जाता है। रूस में बाकू के पास एक ज्वालामुखी देवी का मंदिर है। मंदिर की दीवारों पर यह उत्कीर्ण है कि कुछेक नाथ एवं शैवसाधक इसके प्रतिष्ठाता हैं। ईरान और अरब के सूफी साधकगण भी नाथपंथियों के ही जैसे काया योग साधन पर जोर देते हैं। उनके ऊपर भारतीय नाथपंथियों का कितना प्रभाव पड़ा था, यह अनुसंधान का विषय है।

गोरखनाथ का जन्म कहाँ हुआ तथा कब उनका आविर्भाव हुआ, इसको सही-सही बता पाना संभव नहीं है।[1] उनकी अपनी वाणी तथा रचनाओं पर विचार-विश्लेषण करते पर इस संबन्ध में कुछ अनुमान करना संभव हो जाता, परन्तु प्रक्षिप्त अंशों द्वारा जो भ्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं उनके कारण सत्य को निकाल पाना बहुत ही कठिन कार्य है। रूप कथा तथा जनश्रुतियों का धूम्रजाल भी इन महायोगी के जीवन में, उनकी योगविभूतियों के संदर्भ में, कम नहीं हैं। इसी कारण इस संबन्ध में जो भी कहा जा सकता है वह अनुमान के आधार पर ही।

लगभग दसवीं शताब्दी में, पूर्व भारत के सिद्धपीठ 'कामरूप' में गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ। 'गोरख वाणी' में एक जगह उन्होंने कहा—

---

१ ग्रियर्सन, ब्रिग्स, तेसीतोरी इत्यादि पाश्चात्य पंडितों का अनुमान है कि योगिवर का जन्म पंजाब अथवा पश्चिम भारत का और कोई क्षेत्र है। 'गोरखनाथ' के प्रणेता डा० मोहन सिंह के अनुसार, उनका आविर्भाव पेशावर के निकटवर्ती क्षेत्र में हुआ था।

पूरब देश पछाही घाटी
(जनम) लिख्या हमारा जोग
गुरु हमारा नाऊँगा कहिए
मेटे भरम बिरोगे।[1]

—हमारा देश पूर्वाञ्चल है, तथा पश्चिम में हमारे विचरण का क्षेत्र है। भाग्य ने इस जन्म में मुझे योग ही लिख दिया है। मेरे गुरु नौका के नाविक जैसे हैं, जो भ्रम रूपी रोग से सर्वदा छुटकारा दिलाते हैं।

देश पूर्वाञ्चल है। पूरे जन्म की अवधि तक विधाताने योग साधना लिख दी है—इस कथन से पूर्वी सिद्ध पीठ तथा योगी तांत्रिकों के तप.क्षेत्र कामरूप की ही ओर स्वाभाविक रूप से इंगित होता है।

गोरखनाथ के नाम से प्रचारित वाणी तथा रचना बंगला में नहीं है। इसका अधिकांश भाग हिन्दी में ही रचित है। विशिष्ट गवेषक डाक्टर मोहन सिंह के मत से, योगिवर गोरखनाथ ही हिन्दी

---

१ गोरखवाणी के संपादना प्रसंग में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इस को एक अलौकिक रूपक के रूप व्याख्या करने की चेष्टा की है। विश्वभारती विद्याभवन के उपाध्यक्ष पंचानन मण्डल ने प्रसंग की जो व्याख्या की है, उसे ही समीचीन समझता हूँ। उन्होंने लिखा है, "इस संपादकी रूपक व्याख्या के आवरण हटाने पर हमें जो तथ्य मिलता है उससे गोरखनाथ को भारत के पूर्व क्षेत्र का अधिवासी एवं पश्चिम के नाना क्षत्रों में विचरण करने वाला मान लेना ही रुचिकर लगता है। उन्हें पूर्व देश के निवासी के रूप में भाग्य ने योग लिख दिया था, इस धारणा पर बंगाल के योगपीठ की धारणा अनायास हो जाती है। गोरख-विजय में, 'पश्चिम में गोरख गये", हमारी इस उक्ति को निःसन्देह प्रमाणित करता है।

गद्य के प्रथम लेखक हैं। इसी कारण पंडित समाज का एक दल यह भी सोचता है कि गोरखनाथ जी पूर्वाञ्चल के निवासी नहीं थे। परन्तु यह धारणा तर्कसंगत नहीं है। गोरखनाथ से संबन्धित जितनी भी बात तथा कहानियाँ सारे भारत में प्रचलित हैं, उनकी मूल कहानी बंगाल में ही है। बृहत्तर बंगाल में प्रचलित गोरख की वाणी और रचना में बंगाल मूल और कहानी की प्रतिध्वनि मिलती है तथा अंशों के प्रक्षिप्त तथा परिवर्तित रूप भी पाये जाते हैं।

बंगला साहित्य के विख्यात गवेषक डाक्टर सुकुमार सेन का मत इस प्रसंग में उल्लेखयोग्य है। वे कहते हैं कि "नाथ पन्थ की उत्पत्ति और विकास बंगाल को केन्द्रित करके पूर्व भारत था, इसमें संदेह करने की कोई बात नहीं है। इसका प्राचीन साहित्य बंगला में ही पाया जाता है और उसी के अंदर इसका प्राचीनतम रूप प्रतिबिंबित होता है। बंगाल के बाहर के योगी संप्रदाय की स्रोत-धारा बंगाल से ही निःसृत हुई थी, इसके भी काफी प्रमाण हैं।"

उपर्युत आलोचना के परिप्रेक्ष्य में बंगाल के दूरवर्ती क्षेत्र महा-शक्ति पीठ कामाख्या अञ्चल में गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ था, यह बात युक्तिसंगत लगती है।

अख्यात एवं अज्ञात दीन-दुखी के गृह में गोरखनाथ का जन्म हुआ था। माता परम भक्तिमती थीं। घर-बार का कार्य समाप्त करने के बाद जो भी समय बचता उसको शिव की उपासना एवं जप-ध्यान में व्यतीत करके उनका समय आनंद से कट रहा था। नित्य-पूजा शेष हो जाने पर देवाधिदेव से आशीर्वाद मांगती तथा अंतर में एक भाव-तरंग भी उठती कि इष्टदेव शिव के सदृश्य ही एक पुत्र उनकी गोद में आ जाय।

अंतर्यामी प्रभु ने अंतर की पुकार सुन ली। एक दिन गंभीर

रात्रि में पूजन की समाप्ति पर ये भक्तिमती साधिका इष्टदेव के चरणों में प्रणाम निवेदित कर रही थीं। अनायास उन्होंने विस्मयपूर्वक देखा—सारी कुटिया स्निग्ध शुभ्र ज्योति से भर गयी है, और उस ज्योतिपुञ्ज के अंदर से देवाधिदेव की करुणाघन मूर्ति प्रकट हो रही है।

दिव्य आनंद की तरंग उठाकर प्रभु ने कहा, "वत्से, तुम्हारी भक्तिनिष्ठा से मैं प्रसन्न हूँ। अपने अंतर की आकांक्षा मेरे सम्मुख व्यक्त करो। मैं उसे पूर्ण करूँगा।"

साष्टांग प्रणाम करने के बाद साधिका ने उत्तर दिया, "प्रभु, मेरे हृदय की इच्छा तो तुम भलीभाँति जानते हो। मैं तुम्हारे जैसा ही एक पुत्र चाहती हूँ।"

'तथास्तु। योगीसिद्ध, महाज्ञानी एक पुत्र तुम्हारे गृह में आवेगा।" साथ-ही-साथ भक्त रमणी के सम्मुख बिल्व पत्र में लिपटा हुआ थोड़ा भस्म गिर पड़ा।

प्रभु ने आदेश दिया, "अरी, इस भस्म को जल्दी से खा डालो। इससे तुम्हारे प्राथित धन का लाभ होगा।"

लगभग एक वर्ष के व्यवधान पर इन शिव उपासिका की गोद में एक दिव्यकांति शिशु का आविर्भाव हुआ। यही उत्तर काल में शिवकल्प महायोगी गोरखनाथ हुए।

दरिद्र की संतान का जिस तरह लालन पालन होता है, गोरखनाथ इसके कोई अपवाद नहीं थे। माँ के साथ उन्हें भी नित्य दुःख तथा दारिद्र्य का कराघात सहन करना पड़ा। माँ के पास रह कर बालक नित्य शिव पूजा के उपचार संग्रह करता तथा पूजा की समाप्ति पर श्रद्धापूर्वक निर्माल्य तथा प्रसाद ग्रहण करता।

और किसी को ज्ञात हो या न हो, जननी को तो ज्ञात था ही कि उनके पुत्र ने शुभ संस्कारों के साथ जन्म ग्रहण किया है तथा

शिवके वरदान स्वरूप ही उसका आविर्भाव हुआ है। उन्हें यह भी भलीभाँति ज्ञात था कि इस वैरागी पुत्र के लिए गृहस्थी तथा संसार चलाने का दायित्व नहीं है। अततः श्री भगवान इस पुत्र के माध्यम से कौन-सा खेल खेलेंगें, किसे ज्ञात था ? पुत्र के भविष्य की चिंता बीच-बीच में जननी के अंतर को चंचल कर डालती थी।

बारह वर्ष की अवस्था में, गोरखनाथ के जीवन में, अकस्मात एक अद्भुत घटना घट गयी। भांडार में उस दिन चावल शेष हो गया। पैसे भी बिलकुल नहीं थे। भोजन की क्या व्यवस्था हो ? कुटिया के आंगन में जननी ने गोबर का एक ढेर इकट्ठा करके उपले तैयार करना शुरू किया। संभव है बाजार में इन्हें बेच कर कुछ पैसे मिल जायँ।

बालक गोरखनाथ भी इस समय माँ के पास आकर बैठ गया तथा इस कार्य में उनकी सहायता करने लगा।

इसी समय निकट ही रास्ते पर बहुत से लोगों का शोर-गुल सुनाई पड़ा। जटाजूट मंडित एक वृद्ध संन्यासी उनके क्षुद्र कुटीर की ओर धीरे-धीरे बढ़ते आ रहे हैं। उनके पीछे गाँव के कुछ लोग हैं। सभी के मुख पर कौतूहल तथा विस्मय की छाप स्पष्ट है।

बालक गोरखनाथ के सम्मुख आकर संन्यासी ने श्रद्धापूर्वक प्रणाम निवेदित किया तथा गंभीर स्वर में स्वस्ति गान गाना प्रारंभ किया। बालक में भी अपूर्व भावावेश दृष्टिगोचर होने लगा। दिव्य चेतना से सारा शरीर थर-थर काँप रहा है तथा पलकों का भी निक्षेप नहीं हो रहा है। गोबर से लिपटे हाथ निगूढ़ योगमुद्रा में उठ गये हैं।

गोरखनाथ की जननी की ओर घूम कर सन्यासी ने मृदु मधुर स्वर में कहा, "माँ, तुम्हारी इस गोबर की ढेरी से मैंने एक महा-योगी का आविष्कार कर डाला है। स्वयं शिव ने कृपा करके मुझे

यह संकेत दिया है। तुम्हारा कुल और गोद, दोनों ही पवित्र है। वरन् सारा देश ही ऐसे बालक को पाकर धन्य हो गया है। परन्तु माँ, तुम्हारे किसी कार्य में अब यह नहीं लगेगा। यह बालक प्रेरित-पुरुष है, तथा शीघ्र ही ईश्वर द्वारा निर्धारित कार्य के लिए बाहर निकल पड़ेगा।"

संन्यासी की बात शीघ्र ही घट गयी। दूसरे ही दिन प्रातः उठ कर जननी बालक को देख नहीं पायीं। सर्वदा के लिए घर-संसार छोड़ कर पता नहीं वह कहाँ चला गया है।

नेपाल में आज भी एक किंवदन्ती प्रचलित है— एक पुत्रार्थिनी नारी की प्रार्थना पर भगवान आशुतोष कृपालु हो उठे तथा उन्होंने अपने धुनी का भस्म उसे प्रदान किया। यह भस्म उसके भक्षण के लिए था, परन्तु गलत समझ लेने के कारण उस नारी ने यह भस्म गोबर के ढेर पर डाल दिया। बारह वर्ष बाद एक सिद्ध योगी ने इस गोबर से सिद्धाचार्य गोरखनाथ का आविष्कार किया।

घर से बाहर निकलने के बाद गोरखनाथ साधु-संन्यासियों के दल में सम्मिलित हो गये। परिव्राजन तथा तीर्थ दर्शन में कई वर्ष अतिवाहित हो गये। शैव साधना के पूर्व संस्कार लेकर ही उन्होंने जन्म ग्रहण किया था। इसलिए कहीं भी शैवसाधक अथवा योगी से साक्षात्कार होते ही वे उससे घनिष्टता करने की चेष्टा करते। उनके उपदेश तथा शिक्षा से क्रमशः गोरखनाथ की साधना-पद्धति पारिमार्जित होने लगी।

उन दिनों उत्तर भारत में योगिनी कौल सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ की प्रचुर ख्याति थी। उनके द्वारा रचित 'कौलज्ञान निर्णय' का प्रचार सर्वत्र था। युवक गोरखनाथ ने मन ही मन यह निश्चय कर डाला कि वे इन्हीं महासाधक का आश्रय ग्रहण करेंगे, और उन्हीं से योग-दीक्षा देने का अनुरोध करेंगे। इसी कारण शिवचतुर्दशी की पुण्य

तिथि पर पशुपतिनाथ के दर्शन के पश्चात मत्स्येन्द्रनाथ के आश्रम के संधान में निकल पड़े थे, तथा उनकी मनोकामना पूर्ण हुई।

दीक्षा के बाद गुरु ने कहा, "वत्स, तुम्हारे संस्कार शुद्ध, तथा देह परम पवित्र हैं। तुम उत्तम अधिकारी हो, इसमें संदेह नहीं। परन्तु जिस महान नाथयोग धर्म का तुमने आज आश्रय लिया है उसकी साधना तथा सिद्धि बहुत ही दुरूह है।"

"आपकी कृपा तथा उपदेश से मैं अपने व्रत का उद्यापन कर सकूँगा, ऐसा मुझे विश्वास है। आप मेरे गुरु, नवजीवन दाता तथा नवजीवन के प्रतिष्ठाता हैं। प्राणों की बाजी लगाकर भी मैं आपके आदेश तथा निर्देश का अक्षरशः पालन करूँगा," हाथ जोड़कर गोरखनाथ ने कहा।

"वत्स, लौकिक रूप से मैं गुरु अवश्य हूँ परन्तु असल गुरु तो वे ही हैं—जिनके भीतर सृष्टि का आदि तथा अंत निहित है। 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालोनानवच्छेदात्'—काल जयी परम शिव ही सारे साधकों के प्रकृत गुरु हैं। तुम्हारी साधना की सिद्धि का उद्देश्य अंततः इसी चिरंतन गुरु से तादात्म्य स्थापित करना होगा—अर्थात् नाथत्व प्रतिष्ठित होना।"

"उसी परम सत्ता से जिस प्रकार मैं युक्त हो सकूँ, दया करके उसी निगूढ़-साधन पथ का निर्देश मुझे देने की कृपा करें।"

"निश्चय ही उसका दिग्दर्शन कराऊँगा, वत्स। नाथयोग धर्म की विराट् प्रतिश्रुति तुम्हारे अंदर निहित जो है। तुमसे मुझे बहुत आशाएँ हैं, तथा भरोसा भी है।"

स्नेहपूर्वक तरुण शिष्य के सिर पर हाथ रखकर गुरु फिर कहने लगे, "वत्स, तुम्हें एकनिष्ठ होकर लम्बी अवधि तक हठयोग, लययोग एवं राजयोग की साधना बारी-बारी से करनी होगी।

हमारे सम्प्रदाय में हठयोग के द्वारा पहले राजयोग के दृढ़ सोपान का निर्माण कर लेना होता है।"

"कृपा करके यह बात मुझे पूरी तरह समझा कर बताने की कृपा करें।"

"पहले तुम्हें धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक एवं कपालभाति इन षटकर्मों का साधन करना होगा। इनसे साधक-शरीर में नाना प्रकार की शक्तियों का स्फुरण होता है। इसके बाद की स्थिति में महत्तर शक्तियों का उद्बोधन होगा। जरा-मरण पर तुम्हें पूर्णाधिकार हो जायगा। महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रौली तथा शक्तिचालन, इन दश मुद्राओं की भी मैं तुम्हें यत्नपूर्वक शिक्षा दूंगा।"

"यह मेरा परम सौभाग्य है, प्रभु।"

"इन सभी मुद्राओं की सिद्धि के पश्चात् जरा-मरण के ऊपर योगी का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। अष्टसिद्धियाँ अनायास ही मिल जाती हैं। हमारे पूर्ववर्ती योगी गण, काया साधन को विशेष महत्त्व दे गये हैं। इस साधना में सिद्धि लाभ करके तुम जीवनमुक्त अवधूत के रूप में विचरण कर सकोगे। इसके साथ ही साथ राजयोग की समाधि के फलस्वरूप पूर्ण ज्ञान का भी उदय होगा, तथा नाथ-साधना की परम प्राप्ति, शिवस्वारूप्य, का तुम्हें लाभ होगा।"

गोरखनाथ ने नेपाल में कई वर्षों तक गुरु के सानिध्य में व्यतीत किया। उन्होंने अपनी अध्यात्म साधना के प्रत्येक अंग का निष्ठापूर्वक साधन किया। सौभाग्य से ही शिवकल्प योगी गुरु का आश्रय मिल गया था। उनकी सेवा में उन्होंने मनसा, वाचा, कर्मना अपने को अर्पण कर डाला। इसके साथ ही कठोर कृच्छ्रसाधना के माध्यम से इन्होंने यौगिक साधना की सारी सीढ़ियाँ एक-एक कर पार कर लीं।

एक दिन मत्स्वेन्द्रनाथ ने उन्हें एकान्त में बुला कर कहा, "वत्स, गुरु के सान्निध्य में रह कर, स्थिरतापूर्वक उपदेश ग्रहण तथा जिन निगूढ़ साधनाओं को संपन्न करना पड़ता है, उन्हें तुम पूर्ण कर चुके हो। अब कुछ दिन तुम्हें मेरे साथ परिव्राजन पर निकलना होगा। संप्रदाय के तीर्थों का दर्शन नहीं करने से साधना की भित्ती दृढ़ नहीं हो पाती। सबसे पहले पंजाब, सिंध एवं हिंगलाज में परिव्राजन समाप्त करो। उसके बाद अयोध्या के उत्तरी क्षत्र में घोर वन में अपना आसन लगाओ तथा कठोर तपस्या शुरू करो। वहाँ तुम्हें योग साधना के श्रेष्ठ फल का लाभ होगा।"

पहले दोनों काशी, वृन्दावन, केदार-बदरी का भ्रमण करके दक्षिण एवं पश्चिम भारत की ओर अग्रसर हुए। एक के बाद एक रामेश्वर, त्रयम्बक, पुष्कर, द्वारका आदि तीर्थों का भी दर्शन शेष हुआ।

अब मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने प्रिय शिष्य से कहा, "वत्स, नाथ योगीगण दीक्षान्त में जिन सभी तीर्थों का दर्शन करते हैं, उनमें हिंगलाज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो भी योग साधना को सार्थक एवं पूर्णांग करना चाहते हैं उनके लिए उस स्थान का परिव्राजन, देवी की पूजा तथा होम का अनुष्ठान आवश्यक है। परन्तु इस तीर्थ का पथ बड़ा ही दुर्गम है।"

"उसकी क्या चिंता है, प्रभु। परन्तु इस हिंगलाज की स्थिति किस ओर है?—गोरखनाथ ने प्रश्न किया।

"यह तीर्थ मकरान से पश्चिम समुद्र तट पर है। सिंधु नदी के मुहाने से लगभग अस्सी मील दूर जाना होता है। हिंगलाज पर्वत की चोटी के नीचे ही हिंगल नदी के किनारे, शक्ति साधना का महापीठ, यह हिंगलाज तीर्थ अवस्थित है।"

"इसका विशेष माहात्म्य क्या है, गुरुदेव ?"

"इक्यावन सती पीठों में यह श्रेष्ठतम है। देवी का कपाल यहीं गिरा था— किसी-किसी के मत से किरीट गिरा था। और यहाँ का मंदिर अग्नि देवी के नाम से उत्सर्ग किया हुआ है। हिंगलाज देवी हिंगुदा के नाम से भी पुकारी जाती है। जो भी साधक श्रेष्ठतम शक्ति तथा विभूति का अर्जन करना चाहते हैं—वे योगी हों अथवा तांत्रिक हों, उन्हें यहाँ आना ही होता है, वत्स।[1]

इस हिंगलाज मंदिर में बहुत समय तक वामाचारी साधन प्रथा का प्राधान्य था। इनके अलावा भी दक्षिणाचारी तांत्रिक, शैव योगी एवं नाथ-योगियों के दल भी इस तीर्थ के दर्शन हेतु आया करते थे।

कराँची मियानी— हिंगलाज रोड पकड़ कर भक्त तथा तीर्थ-कामी व्यक्तियों को मकरान समुद्र तट की ओर जाना होता है। रास्ता दुर्गम तो है ही, साथ ही विपत्तियों से भी भरा है। तीर्थ-यात्रीगण प्राय; चालीस-पचास के दलों में विभक्त होकर ही रवाना होते हैं। ब्राह्मण पंडा ही दल का अगुआ होता है और सारी व्यवस्था करता है, तथा रास्ते में लगभग पन्द्रह स्थानों पर पूजा तथा

---

१ हिंगलाज, नागरठाँटा और कोटेश्वर किसी समय पश्चिम भारत के प्राचीन एवं महत्वपूर्ण तीर्थ थे। इनकी ख्याति और मर्यादा हिमालय तथा काशी तीर्थ समूहों जैसी थी। भारत तथा पश्चिम एशिया के संबन्ध प्राचीन काल में यहाँ के कई तीर्थों, विशेषकर हिंगलाज के माध्यम से काफी सुदृढ़ हुए थे। बाद में हिंगजाज देवी को मुसलमान भी बीबी नानी के नाम से संबोधित करने लगे। मुसलमानों द्वारा इन स्थानों का अधिकार कर लेने पर भी हिन्दू यात्रियों को तीर्थ दर्शन में बाधा पाकिस्तान के बनने से पहले तक नहीं पड़ी।

तर्पण आदि करना होता है। नजदीक ही पहाड़ की एक कन्दरा में एक निर्दिष्ट पवित्र स्थान पर देवी को बहुत-सारी पशु बलियाँ अर्पित करनी होती हैं।

पुरानी रीति के अनुसार हिंगलाज पहुँच कर यात्रीगण देवी के चरणों में ठुमरा की माला अर्पित करते हैं तथा उसे श्रद्धापूर्वक गले में धारण करते हैं।

यहाँ गोरखनाथ की एक प्राचीन तथा जाग्रत धुनी भी अवस्थित है। योगी तथा कौल साधकों के लिए यह परम पवित्र है। हिंगलाज से वापसी में यात्रीगण कोटेश्वर महादेव के दर्शन करते हैं। गोरखनाथी योगीगण यहाँ अपने दाहिने हाथ पर योनि-लिंग का चिह्न, अर्थात् शिव-शक्ति का मिलन-चिह्न आग्रहपूर्वक अंकित करा लेते हैं।

नाथ योगियों के लिए प्रिय तथा पवित्र चूना पत्थर की प्रचुर मालाएँ यहाँ सर्वदा मिलती हैं। छोटे-छोटे दानों को हिंगलाज का ठुमरा कहते हैं तथा बड़े आकार के दानें आशापुरी नाम से विख्यात हैं। पाँच सौ अथवा हजार दानों की एक-एक माला योगी तथा भक्त दर्शनार्थीगण नागरठाँटा से क्रय कर लेते हैं तथा हिंगलाज तीर्थ पहुँच कर इसे देवी के चरणों में श्रद्धापूर्वक अर्पण करते हैं। उसके बाद आनन्द से इसे अपने कण्ठ में धारण करते हैं।

तीर्थ के सारे कृत्यों के समापन के बाद वापसी रास्ते में नागरठाँटा की आशापूरी देवी के दर्शन करना यात्रियों का एक आवश्यक कार्य है। आशापूरी नाम इसलिए विख्यात है कि वे भक्तों की आशाएँ तथा अभीष्ट पूर्ण करती हैं। देवी के चरणों का स्पर्श कराकर बड़े दानों को चूना-पत्थर की माला योगीगण परम श्रद्धा से गले में धारण करते हैं। इस माला का नाम भी आशापूरी है।

अनेक वन, पर्वत, नदी आदि से भरे हुए क्षेत्रों को पार करके

मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरख सिन्ध की राजधानी नागरठाँटा में आकर उपस्थित हुए। आधुनिक कराँची से लगभग सत्तर मील दूर माकली पर्वत की उपत्यका में उन दिनों यह नगरी अवस्थित थी।

रास्ता चलते-चलते गोरखनाथ ने प्रश्न किया, "गुरुदेव, आशापूरी की ये मालाएँ योगीगण क्यों कल्याणकर समझते हैं ?"

मत्स्येन्द्रनाथ ने स्नेहपूर्वक उत्तर दिया, "सुनो वत्स ! इस पवित्र माला के साथ हर-पार्वती की एक अपूर्व लीला की कहानी जड़ित है। सिद्ध योगी, भक्त तथा तीर्थयात्रीगण प्राचीन समय से ही इस लीला का स्मरण करते हैं।"

"कृपा करके सारी बातें मुझे विस्तारपूर्वक बतायें।"

संक्षेप में मत्स्येन्द्रनाथ ने उस लीला-कला का वर्णन किया : आशापूरी जंगल के रास्ते एक बार प्रभु शिवजी तथा पार्वती हिंगलाज सिद्धपीठ जा रहे थे। चलते-चलते शिव ने कहा, "प्रिये, मुझे बहुत तेज भूख लग आयी है। तुम जल्दी से खिचड़ी पका डालो। इस अवधि में मैं इस गहन वन से बाहर निकलने के सीधे रास्ते का संधान कर सकता हूँ।"

पार्वती आनन्दपूर्वक तुरत रसोई की व्यवस्था में बैठ गयीं। चलते समय शिव ने कहा, "प्रिये, मेरे अंतर्चक्षुओं के सम्मुख एक आसन्न विपत्ति का दृश्य बार-बार उमड़ रहा है। मेरी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर इस वन का कोई हिंस्र असुर यहाँ आ सकता है। हो सकता है, तुम्हें हानि पहुँचाने की भी वह चेष्टा करे।"

"अगर ऐसी संभावना है, ते फिर मुझे अकेली छोड़ कर चले क्यों जा रहे हो ?" पार्वती विनती करने लगीं।

"नहीं प्रिये, कोई भय नहीं है। तुम्हारे चारों ओर मैं मन्त्रपूत भस्म की एक रेखा खींच कर जा रहा हूँ। इस मंत्रपूत

रेखा के भीतर आने पर असुर तुरत भस्म हो जायगा। इसके अलावा मेरा त्रिलोकजयी त्रिशूल तुम्हारे पास ही रहेगा। आवश्यकता होने पर इस मारणास्त्र का तुम प्रयोग कर सकती हो।"

सतर्कता की सारी व्यवस्था करके शिव रवाना हुए। इधर थोड़ी देर बाद ही एक भीमकाय, रक्ताभ नेत्रों वाला दानव वहाँ आ कर उपस्थित हुआ।

वन में एकाकिनी पार्वती को देखते ही वह काम वासना से उन्मत्त हो उठा, तथा दोनों बाँह फैला कर उन्हें पकड़ने के लिए दौड़ पड़ा। क्रुद्ध होकर देवी ने उसी समय रोषपूर्वक शिव के शत्रुध्वंशी त्रिशूल से उस पर प्रहार किया। क्षण भर में आहत दानव धराशायी हो गया और उसके शरीर से फुहारे की तरह रक्त-धारा निकलने लगी। इस रक्त के छींटों से देवी द्वारा तैयार किया हुआ खाद्यान्न अपवित्र हो गया।

थोड़ी देर के अंदर ही शिव घटनास्थल पर वापस आ गये। दानव की प्रेतात्मा उनके चरणों पर गिर कर कातर कण्ठ से प्रार्थना करने लगी, "प्रभु, तुम्हारे अपने त्रिशूल से मेरी मृत्यु हुई है, तथा जगज्जननी पार्वती ने स्वयं अपने हाथों से मेरा बध किया है। इसलिए तुम्हें मुझे मुक्ति दान करना ही होगा।"

आर्त्त पुकार तथा प्रार्थना से शिव विगलित हो गये। दयार्द्र होकर कह पड़े, 'तथास्तु'।

दानव की आत्मा ने उसी समय मुक्ति लाभ कर लिया, तथा शिव धाम कैलास चला गया। उसका नश्वर शरीर भस्म राशि में परिणत हो गया। वही भस्म देव पूजा के उपकरण सुगन्धित धूप के रूप में परिणत हो गया है।

शिव के आदेशानुवार सारा अपवित्र हुआ खाद्यान्न वहीं वन में फेंक दिया गया। खाद्यान्न के दाने शीघ्र ही प्रस्तरीभूत हो

उठे और उन्हीं से परम पवित्र ठुमरा तथा आशापुरी दाने की उत्पत्ति हुई।

दुर्गम पथ का अतिक्रमण करने के बाद अंततः गोरखनाथ, गुरु के साथ, मकरान के सागर तट पर उपस्थित हुए। इसी मरु-प्रदेश में महाशक्ति की जाग्रत विग्रह हिंगुला देवी अवस्थित हैं। उनके दर्शन, पूजा तथा होम संपन्न करके नवीन साधक दिव्य आनंद से भरपूर हो उठे।

दिवस के अवसान पर रक्ताभ सूर्य कभी के सागर के चक्रवाल के गर्भ में विलीन हो चुके हैं। विशाल मरुप्रान्त के दिग्दिगन्त में रुक्ष पर्वतश्रेणी का सारा शरीर निशा के गहन अन्धकार से आवृत्त हो चुका है। हिंगुला में बलि-गुफा नीरव तथा निस्तब्ध है। सैकड़ों बकरों तथा भैसों की खंडित देह वहाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। ब्राह्मण पंडा का शोरगुल भी उस समय नहीं हैं, तथा पूजा, होम और बलिदान से निवृत्त होकर श्रांत-क्लांत तीर्थ-यात्री-गण अपने-अपने तंबुओं का आश्रय ले चुके हैं। निद्रा के लिए सभी प्रयत्नशील हैं। इसी समय गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ को अपने पास बुलाया। मृदु स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स. तुम अभी सोना नहीं। मध्य रात्रि में मंदिर में जाकर आराधना शुरु करो। आज बड़ा ही शुभ योग है। महादेवी निश्चय ही प्रसन्न होंगी तथा तुम्हें वरदान देकर कृतार्थ करेंगी।"

निर्देशानुसार गंभीर रात्रि में गोरखनाथ मंदिर में प्रवेश करके ध्यानस्थ हो गये। काफी समय व्यतीत हो गया तथा रात्रि का अंतिम प्रहर आसन्न है। अकस्मात्, सारा गर्भ गृह एक शुभ्र, स्निग्ध आलोक से उद्भासित हो उठा। देवी ने अपनी चिन्मयी मूर्त्ति में दर्शन दिया, और मधुर स्वर में कहना शुरु किया, "वत्स, गोरखनाथ: तुम्हारे त्याग-वैराग्य तथा साधननिष्ठा से मैं प्रसन्न हूँ। मुझसे तुम वर माँगो।"

"जगज्जननी, कृपा करके तुम आविर्भूत हो गयी हो, इतने से ही मेरा जीवन सार्थक हो चुका है। अब मुझे कुछ माँगने की क्या आवश्यकता है?"

"वत्स, मैं आशीर्वाद देती हूँ कि तुम आज से अष्ट सिद्धियों के अधिकारी होंगे। योगी तथा तंत्रसाधकों के काम्य-धन महाज्ञान के पथ पर भी तुम अग्रसर होकर शिव स्वारुप्य का लाभ करोगे।"

अंतर्धान होने से पूर्व, देवी उन्हें एक विशेष निर्देश भी दे गयों। उन्होंने कहा, "यहाँ से तुम सीध महातीर्थ अमरनाथ जाओ तथा विग्रहीभूत परमशिव का दर्शन-स्पर्शण करके कृतार्थ होओ।"

सारे रास्ते को पैदल ही पार करते हुए, गुरु तथा शिष्य दोनों ही काश्मीर में अमरनाथ पहुँचे। देवाधिदेव के आश्चर्यजनक प्रतीक, तुषारलिंग के दर्शन करके गोरखनाथ के आनंद की सीमा नहीं है। जल्दी-जल्दी निकट बहती हुई हिमधारा में स्नान करके उन्होंने गुफा में आकर ध्यान तथा भजन आरम्भ कर दिया।

इस तरह लगातार कई प्रहर बीत गये। अब मत्स्येन्द्रनाथ ने शिष्य को पुकार कर मृदुस्वर में कहा, "वत्स, आज शिवचतुर्दशी है। प्राचीन प्रथा के अनुसार आज इस गुफा में इस शुभ लग्न से, भगवान अमरनाथ के तुषारलिंग के सम्मुख नग्न योगी तथा योगिनियों का नृत्योत्सव अनुष्ठित होगा।[1] तुम जल्दी से पीछे खिसक कर दीवार के सहारे खड़े हो जाओ।

थोड़ी देर बाद ही देखा गया, जटाजूट विलम्बित चिमटा करंगधारी योगी तथा योगिनियों का एक नग्न समूह हू-हू करते हुए गुहा से अंदर प्रवेश कर रहा है। तुषारलिंग के सम्मुख प्रणाम तथा स्तुति पाठ करने के बाद उन्होंने परम उत्साहपूर्वक नृत्य-गीत आरंभ कर दिया। समवेत स्वर में बम-बम ध्वनि तथा चिमटा

---

१ ब्रिग्स : गोरखनाथ एण्ड कानफटा योगीज

त्रिशूल का ठन-ठन स्वर निकलने लगा। इसके साथ ही प्रचण्ड वेग से नग्न नृत्य भी होता रहा। इस अद्भुत नृत्य को देखकर गोरखनाथ तो हत्वाक हो गये। नृत्य-गीत उत्सब की समाप्ति पर लिंग-विग्रह की पूजा तथा अन्य कृत्यादि समाप्त करके मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ श्रीनगर वापस चले आये।

गुरु के आश्रम में रहकर अबतक साधन-भजन कर चुके हैं तथा परिव्राजन में भी उनके अमूल्य साहचर्य का लाभ हुआ है। अबतक कठोर साधना एवं देवी के वरदान के फलस्वरूप उन्हें अष्टनिद्धियों के ऐश्वर्य का लाभ भी हो चुका है। परन्तु एक प्रश्न बार-बार उनके मन में उठता ही रहा है।

गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की योगसाधना की प्रक्रियाएँ तो उन्होंने काफी अंश में ग्रहण कर ली हैं, परन्तु उनके कौलमार्ग के निगूढ़ रहस्यों का भेदन क्या कर पाये हैं? तांत्रिक तीर्थ हिंगलाज में देवी की अपार कृपा उन्होंने भले ही अर्जित कर ली हों परन्तु वामाचार के विधान को उनका अंतर ग्रहण करने में अक्षम रहा है। पिछले दिनों अमरनाथ में नग्न योगी-योगिनियों के नृत्य का रहस्य भेदन कर सकने में भी वे सफल नहीं हो सके हैं।

मत्स्वेन्द्रनाथ परम कृपालु हैं, तथा पुत्रादिक स्नेह से गोरखनाथ के साधन जीवन का वे पोषण कर रहे हैं, परन्तु पता नहीं क्यों कौल साधना एवं आचार को वे हृदयंगम नहीं कर पाये हैं।

गोरखनाथ के इष्ट हैं रजतगिरि सन्निभ देवाधिदेव महादेव जो कि त्याग, वैराग्य तथा शुभ्रता के मूर्त विग्रह हैं। इसके अलाबा, अपने साधन मार्ग में गोरखनाथ कठोर ब्रह्मचर्य एवं निष्पाप जीवन के आदर्श को लेकर ही अग्रसर हो रहे हैं। फिर भी मत्स्येन्द्रनाथ जिस तरह शव योगधर्म के साथ तंत्र के वामाचार एवं वीराचार का मिश्रण कर लेते हैं उसको उनका मन ग्रहण करने में समर्थ नहीं है।

एक दिन अवसर मिलने पर उन्होंने एकांत में गुरु के सम्मुख अपने मन की बात कह डाली।

मत्स्येन्द्रनाथ के होठों पर मुस्कुराहट फूट पड़ी। संक्षेप में उन्होंने कहा, "वत्स, तुम जानते हो, कलिकाल में मनुष्य स्वल्पायु होता है। शक्ति साधना के मार्ग से ही वह जल्दी अपना अभीष्ट लाभ कर सकता है। नाथयोग साधना की चरम उपलब्धि है–नाथत्व अर्जन अर्थात परम शिव का सारुप्य लाभ। शिव के पास पहुँचने के लिए शक्ति का आश्रय लेना ही होगा। शक्ति से रहित शिव तो शव मात्र ही हैं। तुम्हारी साधना और सिद्धि और भी परिपक्व हो जाय, उसके बाद ही तुम इन बातों को समझ सकोगे।"

हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में गोरखनाथ ने निवेदन किया, "परन्तु प्रभु, अगर शिव को इष्ट रूप में मान लेता हूँ, फिर शिव जैसा ही त्याग-वैराग्य एवं शुद्धाचार का अनुसरण करना ही क्या ठीक नहीं है? उनके शुद्ध-बुद्ध ज्ञानमय सत्ता से एकाकार हो जाना क्या काम्य नहीं है? आशीर्वाद दें कि परम शिव के ध्यान में ही सर्वदा निमग्न रह सकूँ, तथा शुचि-शुभ्र एवं शिवमय हो सकूँ।"

"वत्स, नाथ धर्म के श्रेष्ठ साधन का तुमने लाभ किया है, तुम्हें अभीष्ट का लाभ अवश्य होगा। परन्तु सर्वदा ध्यान रखना कि शुद्धाचार तथा नैष्ठिकता का सूक्ष्म अहं बोध भी तुम्हें कभी न हो। कौल साधन के संदर्भ में विचार करते समय एक बात का सर्वदा ध्यान रखना। महामाया तथा महाशक्ति को प्राप्त करने के लिए माया को छोड़ देने से काम नहीं चलेगा—उसका भेदन करके ही अग्रसर होना होगा।

क्षण भर बाद गुरु ने फिर कहा, "इतने दिनों तक तुम्हें मेरा साहचर्य मिला तथा तपस्या के फलस्वरूप योगैश्वर्य तथा सिद्धियों का भी प्रचुर लाभ तुम कर चुके हो। परन्तु वत्स, अब तुम्हारे लिए मुझसे अलग होने का समय आ गया है।"

"यह कैसे हो सकेगा, गुरुदेव ! आपसे दूर होने की बात तो मैं किसी तरह सोच भी नहीं सकता।"

'वत्स, इस विच्छेद का भी प्रयोजन है। इसके फलस्वरूस गुरु द्वारा प्रदत्त साधना और तीव्रता से ऊपर उठने का अवसर पाती है। यह तुम्हारे लिए कल्याणकर ही होगा। इसके लिए तुम्हें विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। सही माने में जब भी तुम्हें मेरी आवश्यकता होगी, साक्षात्कार हो जायगा। मेरी सतर्क दृष्टि सदैव तुम्हारे साथ रहेगी। अब तुम परिव्राजन के लिए निकल पड़ो तथा श्रेष्ठ तीर्थों एवं सिद्धपीठों की परिक्रमा शेष करो।"

सजल नयनों से गोरखनाथ ने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से विदा ली।

पदयात्रा पर चलते-चलते गोरखनाथ पंजाब में पालमपुर पहुँच गये हैं। यह एक जनविरल ग्राम है जिसके चारों ओर पहाड़ी पथरीली ऊसर भूमि है। उन्होंने मन ही मन विचार किया कि यहीं एकांत में कुछ दिन ध्यान तथा जप में व्यतीत कर देने में कोई हानि नहीं है।

सारे दिन की यात्रा के बाद शरीर क्लान्त है तथा क्षुधा पिपासा भी तीव्र हो गयी है। एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे आसन बिछा कर बैठते ही बगलवाले खेत से एक किसान का बालक दौड़ता हुआ आया। इस अपूर्व तेजपुंज कलेवर, जिसके चेहरे से दिव्य आभा छिटक रही थी, साधु को देखते ही इनके प्रति आकृष्ठ हो उठा।

व्यग्रतापूर्वक उसने कहा, 'साधु बाबा, जब तक आपकी इच्छा हो आप यहाँ आनंदपूर्वक रहें। सेवा तथा भोजन के लिए किसी प्रकार की चिंता न करें। इसी गाँव में हम लोग रहते हैं तथा पिताजी के पास अनेक खेत तथा अनेक गाय-भैंसें हैं। जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता हो आप बतावें, मैं अभी जाकर ले आता हूँ।"

मुस्कुराते हुए गोरख ने कहा, "बेटा, मेरे भोजन के लिए तुम्हें कुछ भी लाने की आवश्यकता नहीं होगी। कुछ दिनों तक मैं उपवास ही रखूँगा तथा यहीं धूनी जलाकर ध्यान-जप करूँगा। तुम मेरे लिए केवल कुछ सूखी लकड़ियाँ ला दो। इतने से ही मुझे प्रसन्नता होगी।"

बालक के उठते ही गोरख ने फिर कहा, "बेटा, तुम्हें मुझे एक आवश्यक वचन भी देना होगा।"

"कहें, साधुबाबा।"

"मैं यहाँ आसन लगाकर तथा धुनी जलाकर इस गंभीर वन-प्रांत में रहूँगा। जितने दिन भी यहाँ ठहरूँ, किसी से भी मेरे यहाँ रुकने की बात नहीं कहोगे। यहाँ तक कि अपने घरवालों से भी नहीं। ऐसा करने से मेरे कार्य में बाधा होगी।"

बालक सिर हिलाकर अपनी सम्मति देते हुए वहाँ से दौड़ पड़ा। थोड़ी देर बाद ही वह सूखी लकड़ियों की एक गठरी के साथ उपस्थित हुआ।

वन के अंदर घुस कर गोरखनाथ ने एक निर्जन एकांत स्थान चुना जिससे कुछ दिनों तक यहाँ रुक कर वे होम का अनुष्ठान करेंगे।

बालक की ओर देखकर उन्होंने स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, 'बेटा, नित्य तुम इतनी ही लकड़ी मुझे दे जाया करो। तथा जब भी तुम्हारी इच्छा हो तुम चुपचाप मेरी धुनी के पास आकर बैठ सकते हो। परन्तु सावधान, और किसी को इस स्थान की खबर न हो जिससे उन लोगों के आने से मेरे कार्य में बाधा पड़े।"

दो-तीन दिन तक लकड़ी पहुँचाने के बाद, बालक बहुत चिंता में पड़ गया। अपने घर में प्रचुर भोजन सामग्री के रहते हुए यहाँ साधु क्या निराहार रहेंगे? यह कैसी बात है? अंततः उसने अपने मां-बाप के पास सारी बातें स्पष्ट रूप से बता दी।

सभी के परामर्श से यह निश्चय किया गया कि साधु-सेवा का ऐसा सुयोग छोड़ना उचित नहीं है। इसके अलावा ग्राम के निकट एक साधु उपवासी रहेंगे, यह भी तो कल्याणकर नहीं है। दूसरे दिन प्रातः उठ कर किसान का बालक प्रचुर आटा, घी, चीनी लेकर जंगल में उपस्थित हुआ।

हाथ जोड़ कर उसने निवेदन किया, "मेरे घर के लोगों ने यह भेंट, आपके पास भेजी है। अब उपवास न कर के आप इससे अपने लिए भोजन तैयार कर लें।"

शांत तथा दृढ़ स्वर में गोरख ने कहा, "क्यों रे, जिसका मैंने निषेध किया था, वही तुमने अंत में कर डाला? मेरे यहाँ ठहरने की बात तुमने कह ही डाली। कल से ही आसपास के लोग आकर भीड़ करने लगेंगे। नहीं, जो संकल्प मैंने किया था, वह पूरा नहीं हो सका। यहाँ का निवास अब मुझे समाप्त ही करना होगा।"

बालक के नेत्र अश्रुसजल हो उठे। कातर स्वर में वह कह उठा, "बाबा, आपके भोजन के लिए इतना कुछ ले आया और अब इसे वापस ले जाना पड़ेगा?"

बालक के अश्रुसिक्त आँखों की ओर देखते ही गोरखनाथ कोमल हो उठे। कहा, "नहीं फिर यह सब रख ही दो। शिवजी को भोग लगाऊँगा, रसोई के लिए अग्नि तो है, परन्तु जल कहाँ मिलेगा?"

"मेरा ग्राम तो मरुभूमि जैसा है। पास में तो कहीं भी जल नहीं है। घर वापस जाकर संभवतः कुछ व्यवस्था कर सकूँगा।"

"तुम बच्चे हो। इसके लिए क्यों इतनी दौड़भाग करोगे? इसके अलावा, तुम्हारे क्षेत्र में वैसे ही जल का अभाव है—दो-चार मील दूर से उसे लाना पड़ता है। संभव है घर पर एक—आध घड़ा जल हो। फिर इसके लिए सभी को कष्ट दोगे।"

"फिर उपाय क्या है ?" बालक ने हताश होकर उत्तर दिया।

लोहे का गज (योगीदण्ड) नजदीक ही जमीन में गाड़ते हुए गोरखनाथ ने कहा, "यहाँ से ही जल की व्यवस्था हो जायगी, तुम इसके लिए बिलकुल चिंता न करो। यहाँ आओ, जल्दी शिवजी का भोग बनाने की व्यवस्था की जाय।"

बात खतम होते-होते गड़े हुए दण्ड के नीचे से आवाज करता हुआ स्वच्छ जल का झरना फूट पड़ा। यह जलधारा कल-कल नाद करती हुई शुष्क जनपद तथा शश्यक्षेत्रों की ओर चल पड़ी।

भोग बनना समाप्त हुआ। उसे इष्टदेव को निवेदित करके गोरखनाथ ने बालक से कहा, 'सारा प्रसाद अब घर वापस ले जाओ। मुझे कुछ दिन तक और उपवास ही करना होगा। इसलिए इस प्रसाद का मुझे कोई प्रयोजन नहीं है।"

बालक आर्त स्वर में रोते हुए कहने लगा, "प्रभु, आप साधु नहीं हैं देवता है, स्वयं शिवजी ! आपको मैं किसी तरह छोड़ने का नहीं, तथा कहीं जाने भी नहीं दूँगा।" दोनों हाथ बढ़ाकर गोरख को स्पर्श करते ही उसके शरीर में एक अलौकिक स्तंभन दृष्टिगोचर हुआ। निश्चल, प्राणहीन पत्थर की मूर्त्ति-जैसे वह खड़ा रह गया। बालक को उसी तरह छोड़कर गोरखनाथ जल्दी-जल्दी उसी समय वन से बाहर निकल गये। उसके बाद पहाड़ी रास्ते पर फिर उनका परिव्राजन आरंभ हुआ।

उस ग्राम में एक शुद्धाचारी भांट ब्राह्मण निवास करते थे। रात में उन्होंने स्वप्न में एक योगी का निर्देश पाया, "अरे, तुम गाँव के सभी वन में आगे बढ़ जाओ। महायोगी गोरखनाथ का स्पर्श करके कृषक-बालक का सिद्ध साधु में रूपान्तरण हो गया है। उसका बाह्य ज्ञान लौट आने पर वहाँ एक श्वेत पत्थरों के मंदिर का निर्माण करो तथा विग्रह की स्थापना करके भक्तिपूर्वक उसकी सेवा-पूजा करो।"

भांट ने जिस साधक मूर्ति का स्वप्न में दर्शन किया था, नव-निर्मित मंदिर में उसी की अनुकृति स्थापित की गयी। आज भी वहाँ प्रति वर्ष मेला लगता है। गोरखनाथ तथा उनके शिष्य गूगा की मूर्त्ति वहाँ प्रतिष्ठित है तथा बहुत से सिद्धाचार्यों की पदधूलि से यह स्थान पवित्र हो उठा है।

रास्ता चलते-चलते गोरखनाथ प्रयाग पहुँचे। त्रिवेणी पर स्नान तथा पूजा शेष करके उन्होंने सोचा कि नगर में एक कुटिया बनाकर कुछ दिन तक वहीं साधन-भजन करेंगे। परन्तु एक-दो दिन रुकने के बाद ही उन्होंने देखा कि राज्य में अजीब अराजकता फैली हुई है।

इस क्षेत्र का शासन उस समय राजा हरभंग के अधीन था। राजा वृद्ध हो चुके हैं तथा उन्माद के रोग से ग्रस्त हैं। थोड़े दिन से उनका विचार हो गया है कि रामराज्य से भी शुद्ध राज्य की वे स्थापना करेंगे। उन्होंने एक आदेश जारी किया है कि उनके राज्य में सभी वस्तुओं का मूल्य एक ही होगा। एक सेर चावल और एक सेर सोना अथवा रत्न प्रवाल, एक ही दर से व्यवसायियों को विक्रय करना होगा। उसका उल्लंघन करने पर वे गंभीर दण्ड के भागी होंगे। राजा का विश्वास है कि इससे प्रजागण समदर्शी तथा शुद्ध एवं सात्विक हो सकेंगे।

रात में कुटिया में मत्स्येन्द्रनाथ का अलौकिक प्रगटन हो गया। कहा—"गोरख, तुम तो मन की मौज में तीर्थ स्नान की बात सोच रहे हो और यहाँ गंभीर विपत्ति आ पड़ी है। तुम आज ही इस स्थान से खिसक पड़ो।"

"प्रभु, यहाँ के राजा का पागलपन किस हद तक बढ़ता है और क्या घटनाएँ होती हैं, उन्हें देखने का मुझे बड़ा कौतूहल हो

इंडियन एंटिक्विटी—१९०३, पृ० ३८; दि ट्राइब्स एण्ड कस्टम्स आफ दि सेन्ट्रल प्रविन्सेज आफ इण्डिया, पृ० १८३.

रहा है। सारी बातें बिना देख मैं यहाँ से जाने का नहीं।"— मुस्कुराते हुए गोरखनाथ ने उत्तर दिया।

"ठीक है, फिर अच्छी तरह से मजा देख लो"—व्यंगात्म हँसी हँसते हुए मत्स्येद्रनाथ अंतर्धान हो गये।

इस राजाज्ञा के फल का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। वणिक तथा महाजनों में आतंक की सीमा नहीं। बाजार में खरीद-बिक्री बिलकुल बन्द है। जन साधारण को खाद्य पदार्थ, वस्त्र, औषधि इत्यादि दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ जुटा पाना भी नितांत असंभव हो गया है।

एक दिन बाजार में कहासुनी तथा मारपीट करते हुए एक नृशंस व्यक्ति ने एक दुकानदार का खून कर डाला है। चारों ओर चीख-पुकार मची है। सिपाहियों ने खूनी को पकड़ लिया है तथा न्यायाधीश ने उसे प्राणदण्ड का आदेश दिया है। परन्तु वह व्यक्ति जितना ही नृशंस है, उतना ही शक्तिमान। उसे पकड़ कर रखना संभव नहीं हो पाया। रात में ही कारागार तोड़ कर वह भाग-निकला। दूसरे दिन काफी चेष्टा करने पर भी वह पकड़ में नहीं आया।

पागल राजा गरज उठे, "इस खूनी के जैसे-ही लम्बे-चौड़े तथा जवान जितने भी मनुष्य हैं, सभी को पकड़ लो। तथा उनमें से जो सबसे अधिक बलवान है, उसे पकड़ कर सबसे पहले फांसी दे दो। उसके बाद स्वथ्य चित्त से असली अपराधी को खोज निकालो। इस आदेश को नहीं मानने पर नगरपाल की भी गर्दन नहीं बचेगी।"

नगरपाल का मुख भय से सूख गया। उसी समय वे दल-बल के साथ राजपथ से बाहर निकल पड़े। सैनिकों ने चारों ओर जोर-शोर से तलाश शुरू कर दी। लम्बा, तगड़ा मनुष्य देखते

ही सीधा वे उसे गिरफ्तार करने लगे। सारे नगर में हाहाकार मच गया।

ध्यान-पूजा समाप्त करके गोरखनाथ ने झोपड़ी का द्वार बन्द कर दिया है, तथा कुछ देर लेट कर विश्राम करने की सोच रहे हैं।

अकस्मात् उन्होंने देखा कि पता नहीं कहाँ से गुरु मत्स्येन्द्रनाथ प्रकट होकर उनके सम्मुख खड़े हैं। वे हड़बड़ाकर उठे तथा उन्हें साष्टांग प्रणाम निवेदित किया। हाथ जोड़ कर उन्होंने कहा, "प्रभु, कृपामय हैं। तभी आश्रित के सम्मुख बार-बार आपका प्रकट न हो रहा है। कृपया बताएँ कि अब मेरे लिए क्या आदेश है।"

"वत्स, मेरी बात पर तुमने ध्यान नहीं दिया। कौतूहल वश अभी तक यहाँ रुके ही रह गये। किन्तु अब घोर विपत्ति आ गयी है। राजा के अनुचरगण, बहुत से लोगों को बिना किसी अभियोग के गिरफ्तार कर रहे हैं। इसमें से एक को चुन कर वे फांसी की सजा देंगे।"

"ठीक ही तो है प्रभु, चलिए देखें क्या तमाशा खड़ा हो चुका है।"

"देखने का सुयोग अधिक कहाँ है, गोरखनाथ? लगता है हम लोगों की घड़ी नजदीक आ गयी है।"

"ऐसी क्या बात है, प्रभु?"

"तुम्हारे तथा मेरे जैसे दीर्घाकार, सबल पुरुष इस राज्य में नहीं हैं। स्पष्ट यही देख रहा हूँ कि अब हम दोनों के ही फाँसी पर लटकने की बारी है।" मुस्कुराते हुए मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा।

अब तक गोरखनाथ को बात समझ में आ गयी थीं। विनती करते हुए उन्होंने कहा "प्रभु, फिर आप क्यों अपने को निरर्थक

इस विपत्ति में डाल रहे हैं? जिस तरह शून्य मार्ग से इस झोपड़ी के भीतर आये थे, उसी तरह यहाँ से अंतर्धान हो जांय। प्रार्थना है, क्षण भर भी आप देर न करें। मेरे कुतर्क के कारण आपकी लेशमात्र भी क्षति होने पर मेरे दुःख की सीमा नहीं रहेगी।"

गोरखनाथ की बात समाप्त होते-होते झोंपड़ी का द्वार तोड़कर सैनिकों का एक दल अंदर घुस पड़ा। विशालकाय योगिद्वय को बाँधकर नगरपाल के सम्मुख उपस्थित किया गया।

चुनने पर देखा गया कि पकड़े गये व्यक्तियों में मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ सबसे अधिक बलशाली तथा दीर्घवपु है। दोनों ही समान रूप से दीर्घाकार हैं तथा दैहिक शक्ति किसमें अधिक है, यह समझना कठिन है। अंततः दूसरे दिन नगरपाल ने उन दोनों को वधभूमि में प्रतीक्षा करते हुए राजा के सम्मुख उपस्थित किया।

पागल राजा कौतूहलपूर्वक, समुन्नत देह, आजानुबाहु दोनों योगियों की ओर काफी समय तक देखते रहे। दोनों ही बराबर बलवान हैं, इसलिए कोई फैसला लेना संभव नहीं हो पा रहा है। उसके बाद अकस्मात् राजा ने उत्तेजित स्वर में हुक्म दिया, "देखो, इसके लिए इतना सिर खपाने की आवश्यकता नहीं है। किसी एक को अभी फांसी पर लटका दो।"

"महाराज क्या सही न्याय न करके पाप के भागी नहीं होंगे? अच्छी तरह देखें, दोनों में से मैं ही वध के लिए योग्यतम व्यक्ति हूँ। मुझे ही फांसी पर चढ़ाने का आदेश दें।"– मत्स्येन्द्रनाथ बोल उठे।

गोरखनाथ भी व्यग्र हो उठे। उन्होंने आवेदन किया, "मेरा दावा इनसे अधिक है महाराज। आप मेरा ही वध करें।"

दोनों ही बन्दी-साधु, बराबर उत्साहपूर्वक प्राण देने का अपना-अपना दावा कर रहे हैं, तथा शोर-गुल कर रहे हैं। बड़ी अजीब सी बात है, उपस्थित जन-समूह भी इसे देख कर अवाक् है।

राजा ने बुद्धिमत्तापूर्वक सिर हिला कर कहा, 'ठहरो, इसके भीतर निश्चित रूप से कोई गूढ़ रहस्य है। वह क्या है, इसे पहले जानना होगा।"

मत्स्येन्द्रनाथ से उन्होंने प्रश्न किया, "अरे साधक, असली बात मुझे बताओ। प्राण देने के लिए दोनों इस तरह झगड़ क्यों रहे हो? असली अपराधी खून करके भाग गया है, इसलिए मैंने चटपट हुक्म दे डाला है कि उसके बदले एक आदमी का जल्दी से वध कर डालो। फिर तुम लोग निर्दोष होकर भी दोनों फाँसी पर चढ़ने के लिए इतने व्यग्र क्यों हो रहे हो? सारी बात मुझे खोलकर बताओ।"

मत्स्येन्द्रनाथ ने विनीत भाव से निवेदन किया, "महाराज, असली बात तो आप जानते नहीं। ठीक इसी समय आज एक परम पुण्यमय लग्न उपस्थित हो गया है। इस लग्न में जिस भाग्यवान की मृत्यु होगी, उसे अक्षय स्वर्गवास की प्राप्ति होगी। जिसके लिए सारा जीवन इतना कष्ट झेला है, वह आपकी कृपा से अनायास ही आज मिल जायेगा। यह क्या कम सौभाग्य की बात है? आप अब और देरी न करें महाराज! आप प्राणदण्ड के लिए अविलम्ब आदेश दें।"

गोरखनाथ भी गुरु को हटा कर बार-बार अपना आवेदन प्रस्तुत कर रहे हैं।

राजा नीरव कुछ देर तक सोचते रहे। उसके बाद मंत्रियों के साथ कुछ देर तक गुप्त वार्ता चलती रही।

उपस्थित जनता साँस रोक कर खड़ी थी। पगला राजा अब कौन सा आदेश जारी करेगा, कौन जाने?

सभासद तथा जनसाधारण को संबोधित करते हुए राजा ने जो घोषणा की उससे सभी के विस्मय की सीमा नहीं रही। उसने कहा, "मैंने विचार-विवेचना करने के बाद एक नवीन सिद्धान्त स्थिर किया है। दोनों साधु ही हम लोगों को भुलावे में डालकर अक्षय स्वर्गवास की व्यवस्था चाहते हैं। परन्तु मैं उनका उद्देश्य किसी तरह भी पूरा

नहीं होने दूँगा। पुण्यलग्न का लाभ आज मैं स्वयं ही उठाऊँगा। मैं वृद्ध हो चुका हूँ। अब उस पार के सुख का भी मैं सहज ही अर्जन करूँगा। अब विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं है। मंत्री, मुझे फांसी के मंच पर ले जाकर देहान्त की व्यवस्था करें।"

राजा के आदेश का तुरत पालन हुआ, तथा उसकी मृत्यु के साथ-साथ सारे राज्य में विद्रोह शुरू हो गया। साथ ही हत्या, लूटपाट तथा अग्निदाह का भी दौर चला। मत्स्येन्द्र तथा गोरख तुरत वहाँ से खिसक गये।

रास्ते में गोरखनाथ के मन में अनेक प्रश्न उठने लगे। गुरू अंतर्यामी हैं तथा सारी बातों को जानते हैं। गोरख की ओर देख कर मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा, "वत्स, तुम चिंता नहीं करो, यह पगला राजा अपनी तुष्टि के लिए बहुत सारे पाप किए हैं। अब अंततः उससे गला छूट गया। परमशिव की इच्छा से, तुम्हें निमित्त बना कर इस राज्य का कुछ शोधन कार्य संपन्न हुआ।"

"प्रभु, आप अगर यहाँ ठीक समय पर उपस्थित न होते तो मुझे बहुत बड़ी विपत्ति में पड़ना होता।"—हाथ जोड़ कर गोरखनाथ ने निवेदन किया।

"वत्स, तुम्हें तो मैं पहले भी कह चुका हूँ कि जब भी मुझसे साक्षात्कार की आवश्यकता होगी, उसी क्षण मैं स्वतः उपस्थित हो जाऊँगा। वत्स, अब तुम अपना परिव्राजन समाप्त करो। किसी पवित्र सिद्धपीठ से अपना स्थायी आसन स्थापित करो और वहीं बैठकर अपनी साधना को पूर्णांग करो।"

कहते-कहते महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ अंतरीक्ष पथ से अदृश्य हो गये।

बहुत से प्रसिद्ध तीर्थ एवं सिद्धपीठों के दर्शन करने के बाद गोरखनाथ हिमालय से सौ मील दक्षिण एक निर्जन वन में उपस्थित हुए। यह स्थान जनकोलाहल से बहुत दूर, शांत छाया से भरपूर तथा

निर्जन था। सामने ही एक मनोरम सरोवर भी स्थित था। उसके किनारे आकर खड़े होते ही उन्होंने सोचा कि यह साधन के लिए अनुकूल क्षेत्र है।

यही सोच रहे हैं कि त्रिशूल, आशा तथा झोला रक्खें या नहीं, इसी समय उनके कानों में मत्स्येन्द्रनाथ का दैवी कण्ठ स्वर सुनाई पड़ा। नैपथ्य में ही रहकर गुरू ने कहा, "गोरख, यही तुम्हारा निर्दिष्ट साधन स्थान है। इस सरोवर का नाम मान सरोवर है। युगों से बहुत-से योगी इसके तट पर बैठ कर तपस्या कर चुके हैं। सामने जो सिद्ध वकुल (मौलश्री) का वृक्ष है उसके नीचे तुम कुटिया बनाकर साधना का आरंभ कर दो। यहीं तुम योगी जीवन के वांक्षित सिद्धदेह का लाभ करोगे।"

इसके अलावा गुरू ने भविष्यवाणी की, "वत्स, यहाँ की साधना की समाप्ति पर तुम नये-नये योगैश्वर्यों का लाभ करोगे और उसी के साथ तुम्हारे आचार्य जीवन का श्रीगणेण होगा। नहुतेरे नाथ योगी, मुमूक्षु तथा भक्त तुमसे साधन निर्देश लेने आवेंगे। तुम्हारे इस सिद्ध स्थल को केन्द्र करके एक पवित्र शैवतीर्थ की सृष्टि होगी तथा यहाँ एक सुन्दर नगर बन जायगा, जो कि गोरखपुर के नाम से परिचित होगा।"

दैवी स्वर नीरव हो गया। गोरखनाथ ने प्रसन्नतापूर्वक यहीं अपनी तपस्या का आसन डाल दिया।

अबकी बार गुरू प्रदत्त साधना की पूर्ण परिणति ही उनका लक्ष्य था और इसके लिए उन्होंने सर्वस्व अर्पण कर डाला। इन दिनों का जीवन चरम कृच्छ्र साधना एवं कठोर तपस्या में व्यतीत होने लगा। दिवा-रात्रि का कुछ भी ज्ञान नहीं है तथा शीत-ग्रीष्म का भी पार्थक्य बोध शेष हो चुका है। यहाँ तक कि माघ की निशीथ रात्रि की जोड़-जोड़ हिला देने वाली सर्दी में भी उन्हें नग्न-देह, ध्यानावस्थित अवस्था में देखा जा सकता है। ग्रीष्म में मार्तण्ड की दाहक-ज्वाला में भी वे निर्विकार ही रहते है। कितने श्रावणों की उन्मत्त जलधारा ध्यान मग्न साधक के माथे के ऊपर गुजर जाती है, इस तरफ उनका कोई ध्यान ही नहीं है। इस प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये।

गुरू मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा तथा देवी के वरदान के फलस्वरूप गोरखनाथ अष्टसिद्धियों का अर्जन इससे पूर्व तो कर चुके हैं। अपरिमेय योगैश्वर्य भी उनके करतलगत हो चुका है। अबकी बार प्रकृति-वशीत्व की दुर्लभ शक्ति भी हस्तगत हो गयी।

कई मास तक ध्यानस्थ तथा समाहित रहने के बाद गोरखनाथ के नेत्र उन्मीलित होने पर प्रकृति उनके सम्मुख, किंकरी जैसी सेवा के लिए उपस्थित हो जाती है। क्षुधा-पिपासा का उद्रेक होने पर इच्छा मात्र से वन के वृक्षों से कितने ही रसाल फल गिर पड़ते हैं। तथा महासाधक के चरणों पर इनका ढेर लग जाता है।

लगातार कई मास तक वे ध्यानावस्थित रहे हैं। सहसा एक दिन उनका शरीर बोध वापस लौट आया। शीतल जल से स्नान करने की इच्छा जग पड़ी। सरोवर में क्रीड़ा-रत हाथियों का समूह व्याकुल होकर दौड़ता हुआ चला आया और महायोगी के शरीर पर सूढ़ से जल धारा का वषण करने लगा।

गोरखनाथ प्रायः अपनी मौज में कठोर पंचतप का अनुष्ठान करते हैं। व्रत का उद्यापन शेष होते ही आकाश में जलपूर्ण श्यामल मेघ पुन्ज उमड़ पड़ते हैं तथा घोर-वर्षण से वे होमकुण्ड की अग्नि बुझा देते हैं। तथा महायोगी की तप्त देह को सिक्त तथा रसस्निग्ध कर देते हैं। प्रकृति की स्वत स्फूर्त सेवा इस तरह महासाधक के लिए सर्वदा प्रस्तुत हो जाती है।

इस सरोवर के तीर पर बारह वर्षों की अनवरत कठोर साधना के बाद गोरखनाथ का अभीष्ट पूर्ण हुआ। इष्टदेव शिव का साक्षात लाभ करके वे कृतार्थ हुए।

देवाधिदेव ने स्नेहपूर्वक कहा, "वत्स गोरखनाथ, तुम्हारा जन्म मेरे ही वरदान के फलस्वरूप हुआ था, इसी कारण तुम सात्विक संस्कार लेकर ही आविर्भूत हुए थे। अब तुम्हारी साधना से प्रसन्न होकर तुम्हें वरदान देता हूँ। तुम माया सिद्धि तथा नाथत्व का अर्जन करो।"

कृतार्थ साधक के दोनों नयनों से अश्रु धारा की वर्षा होने लगी तथा इष्टदेव के चरणों में बार-बार लोटकर वे प्रणाम करने लगे।

थोड़े दिनों के बाद ही फिर स्वर्गीय कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा। देवाधिदेव ने कहा, "वत्स, तुम्हारे तप के प्रभाव से यह साधनपीठ पवित्र हो गया है। आज के बाद बहुत से मुमुक्षु साधकों का तुम्हारे पास आगमन होगा। उनकी तुम सहायता करो।"

"प्रभु, यह तो किसी आचार्य का कार्य है। इस गुरू दायित्व का भार लेने की तो मेरी इच्छा कभी नहीं हुई। मात्र आपका ही इष्ट रूप में आजीवन भजन करता रहा हूँ तथा आपके ही सर्वपाशमुक्त, सदावैरागी, शुद्ध-बुद्ध युक्त स्वरूप को ही अपना आदर्श मान रखा है। फिर भक्त-साधकों को मेरे पास जुटाने की व्यवस्था क्यों ?"

शिव ने मुस्कुराते हुए कहा, "वत्स, यह तो तुम्हारा व्यक्तिगत कार्य नहीं है, वरन् ईश्वरीय कार्य है। साधना का उद्देश्य होता है, जीव को शिव रूप में परिणत करना। एक-एक जीव दिव्य आलोक पुञ्ज बन कर प्रज्वलित हो उठेगा और उनसे अजस्त्र दीप शिखाएँ प्रज्वलित हो उठेगी। इस परम्परा की तो उन्हें ही रक्षा करनी होगी, जो ईश्वर के चिह्नित सेवक हैं। तुम उनमें से ही एक हो।"

कहते-कहते स्वर्गीय आलोक छटा लुप्त हो गयी और देवाधिदेव क्षण भर में अंतरीक्ष में अदृश्य हो गये।

योगीवर गोरखनाथ के साधनैश्वर्य की प्रचुर ख्याति एवं नाना कहानियाँ क्रमशः इस क्षेत्र में प्रचलित हो गयी। मानसरोवर के चारों ओर धीरे-धीरे साधनकामी योगी तथा संन्यासियों का दल जुटने लगा। गोरखनाथ के तपस्यादीप्त रूप, असामान्य त्याग, तितीक्षा एवं व्यक्तित्व के प्रति वे शीघ्र ही आकृष्ट होने लगे। अनेक को उनके चरणों में आश्रय मिलने लगा। शीघ्र ही यह क्षेत्र सिद्ध साधक गोरखनाथ के गोरखपुर नाम से प्रसिद्ध हो गया।

रसेश्वर-साजना माया-सिद्धि का ही एक प्राचीन मार्ग है। इस मार्ग के सिद्ध योगी गण जरा-मरणहीन सूक्ष्म दिव्य देह अथवा 'रसमय तनु के माध्यम से त्रिलोक में सर्वत्र विचरण कर सकते हैं, ऐसी मान्यता है। इस संप्रदाय के नेता अल्लाम प्रभु तथा गोरखनाथ के शक्तियों के टक्कर की विलक्षण कहानी उत्तर भारत में प्रचलित है।

एकबार अल्लाम घूमते-घूमते गोरखपुर आ पहुँचे। गोरखनाथ की ख्याति एवं प्रतिष्ठा की बात सुनकर वे सदलबल तक्षण उनके साधन पीठ में उपस्थित हुए।

प्रसंगवशात दोनों के मध्य कायासिद्धि तत्व को लेकर तर्क-वितकं आरंभ हो गया। अपने मार्ग को गौरवशाली बताते हुए अल्-लाम ने रसेश्वर दर्शन के गुणगान के साथ ही साथ नाथ-साधन प्रणाली की निंदा भी आरंभ कर दी।

गोरखनाथ इस बात को सुनकर काफी उत्तजित हो गये। रोषपूर्वक वे कह उठे, "आचार्यवर, युक्तिहीन, अनावश्यक बात कहने से तो कोई लाभ नहीं है, तथा निरर्थक इस बहस तथा निंदा से क्या प्रयोजन है ? आइये, नाथयोगियों की मायासिद्धि क्या है, उसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण अभी मैं आपको देता हूँ।"

"यह प्रस्ताव सबसे उत्तम है," अल्लाम प्रभु ने उत्साहपूर्वक उत्तर दिया।

"मैं आपके सम्मुख खड़ा हूँ। इस तीक्ष्ण खड़्ग से आप मुझपर आघात करें। मेरे इस सिद्ध देह का एक रोम भी अगर आप काट सकें, फिर मैं स्वीकार लूँगा कि सिद्धाचार्य में मेरी गणना होने का मुझे कोई अधिकार नहीं है।

अल्लाम प्रभु बार-बार जोर से आघात करते रहे परन्तु गोरख की सिद्ध देह पर लेश मात्र की हानि नहीं पहुँचा सके। बार-बार केवल आघात जनित तीव्र स्वर मात्र सुनाई पड़ता रहा।

अस्त्र का त्याग करके अल्लाम विद्रुप की हँसी हँसते हुए कह उठे, "ओ नवीन नाथयोगी, मैं स्वीकार करता हूँ कि तुम्हारे शरीर का बाल भी बांका नहीं हुआ। किन्तु भाई, खड्गाघात के फलस्वरूप शब्द क्यों होगा ? इसके माने कि कहीं कोई संघर्ष हो रहा है। सचमुच का सिद्धदेह था तो देह महाकाश के जैसा शब्दहीन होगा, विकारहीन। अपने गुरू मत्स्येन्द्रनाथ से तुम जिज्ञासा करो कि उनके शिष्य की मायासिद्धि अबतक पूर्ण क्यों नहीं हो पायी है।"

इसके बाद अल्लाम प्रभु ने गोरख का अपने शरीर के सिद्धत्व की परीक्षा करने के लिए आवाहन किया। उसी अस्त्र द्वारा गोरखनाथ बार-बार आघात करने लगे, परन्तु आचार्य के शरीर में लेशमात्र भी विकार अथवा वैलक्षण्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ। मानो उनकी सिद्ध देह नीरव, निस्पंद महाकाश के अलावा और कुछ भी नहीं है।

अब गोरख की ओर देखते हुए अल्लाम जय गर्व से हो-हो करके हँस पड़े। उसके बाद भक्त शिष्यों के साथ धीरे-धीरे उस स्थान से चले गये।

गोरखनाथ अत्यन्त चिंतित हो उठ। अबतक उन्होंने कठोर साधना ने कोई कमी नहीं की है। गुरु ने भी उनके ऊपर अकृपण भाव से कृपा वर्षा की है। शिव के वरदान स्वरूप कायसिद्धि तथा नाथत्व लाभ भी उन्हें पूर्ण लाभ हो चुका है। परन्तु काय सिद्धि में पता नहीं किस सूक्ष्मतम स्तर पर कोई त्रुटि अभी भी रह गयी है। फिर क्या उनकी किसी व्यक्तिगत त्रुटि से आज भी उनकी साधना पूर्णांग नहीं हो पायी है ? अगर गुरू महाराज पास होते तो सारी बात स्पष्ट रूप से विदित हो जाती।

अंतर में यही आर्त पुकार बार-बार उठने लगी कि उनकी शिवस्वरूप गुरू मत्स्येन्द्रनाथ कहाँ हैं ? किस तरह उनका दर्शन तथा साधन निर्देश मिल सकेगा ?

उस दिन ध्यानासन पर बैठ कर उन्होंने संकल्प किया कि गुरु ने कहाँ आत्मगोपन करके अपने को रखा है, यह तो ज्ञात नहीं, किन्तु अपनी वर्तमान स्थिति का ज्ञान उन्हें वे अपने शक्तिवल से ही करावेंगे।

ध्यानावस्थित होते ही उनकी दृष्टि सुदूर पूर्वदेश, कदली राज्य कामरूप की ओर प्रसारित हो गयी।[1] परन्तु यह कैसा अविश्वसनीय काण्ड है! महाशक्तिधर गुरु जो कि असंभव को संभव बना देने वाले हैं उनका यह रूप तथा व्यक्तित्व तो वहाँ दिखाई नहीं पड़ रहा है! यहाँ तो वे सैकड़ों रूपसी तरुणियों द्वारा घिरे हुए हैं। नाथ धर्म के आदर्श, प्रतिष्ठा तथा अपनी व्यक्तिगत साधना के ऐश्पर्य को भूलकर, वे भोग, सुखों में डूबे हुए हैं। ऐसा लगता है कि उनका जीवन अब अधिक दिनों तक नहीं है।

कामरूप नारी-राज्य—इन्द्रजाल का राज्य। यहाँ की मायाविनियों ने मत्स्येन्द्रनाथ को अपने रूप के जाल में बाँध लिया है। उनकी यह क्या शोचनीय अवस्था है। इसका अविलम्ब प्रतिकार आवश्यक है।

यह विचार आते ही गोरखनाथ ने अपना कर्तव्य स्थिर कर डाला। संभवतः प्रारब्ध के योग के कारण गुरु की यह दुर्दशा हो गयी है। उनके उद्धार का कोई उपाय करना ही होगा, तथा इसके लिए गोरख अपने योग सामर्थ्य की सहायता लेंगे।

इस संकल्प के कार्यरुप में परिणत होने में देर नहीं लगी।

---

१. कदली राज्य की अवस्थिति के संबन्ध में यह शाली, शहीदुल्लाह, राजमोहन नाथ इत्यादि विद्वानों के विभिन्न मत हैं। फिर भी मायावी स्त्री राज्य के परिप्रेक्ष्य में मेरे मत से इसे कामरूप ही होना चाहिए। प्रसंगवश यह भी उल्लेख किया जाता है कि कश्मीर के प्रख्यात इतिहासविद् कल्हण राजा ललितादित्य का प्रागज्योतिषपुर के स्त्री राज्य के विजय का उल्लेख करते हैं। इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वर्णित स्त्री राज्य एक ऐतिहासिक सत्य है।

योग विभूति की सहायता से उसी क्षण महायोगी गोरख आकाश में उड़ गये। अविलम्ब वे आसाम के उस नारी शासित देश में उपस्थित हुए।

राज्य में प्रवेश करने के मार्ग में ही उन्हें योगी जालंधरीपाद से साक्षात्कार हुआ। मत्स्येन्द्रनाथ के विषय में पूछताछ करते ही जालंधरी के होठों पर वक्र मुसकान खेल गयी। उन्होंने कहा, "देखता हूँ कि तुम कोई खोज-खबर ही नहीं रखते हो। तुम्हारे गुरू ने योग-सिद्धि-विद्धि सभी छोड़ दी है, और यहाँ के रूपसियों के प्रेम में विभोर हो रहे हैं। इस राज्य की रानी मंगला तथा कमला के माया-पाश में पूर्णतः आबद्ध होकर एकदम आत्मविस्मृत हो गये हैं।"

क्लान्त गोरखनाथ, कदली की राजपुरी में आकर उपस्थित हुए। रानियाँ काफी सतर्कता पूर्वक मत्स्येन्द्र को सर्वदा अलग ही रखती थीं। विदेश से जो योगी-सन्यासी आते थे, उनके साथ किसी तरह भी संपर्क करने नहीं देती थी।

सोच-विचार कर गोरखनाथ ने योग-वल की सहायता ली। क्षण भर में ही उन्होंने रूपसी नर्तकी रंगिनी का रूप धारण किया। फिर इसी मोहिनी की वेशभूषा में हाथ में मृदंग लेकर राज-सभा में मत्स्येन्द्रनाथ के सम्मुख उपस्थित हुए। बंगला लोक गाथा में योगिवर के लीला-अभिनय एवं चरित्र का बड़ा ही मनोरम वर्णन बन पड़ा है :—

देह रूप गुण गोरख दूरे त्यागिया
स्त्रीर रूप धर गोरख माया त पातिया।
काल धूल धूत्रे केश आमोदित करि
विचित्र कानड़ छान्दे बान्धिलो कवरी।
ताहे बेढ़ि सरू तरू कुसुमेर माला
मेघराज मध्ये जेनो पड़िछे बिजला।
अंगुले अंगुरि परे कनक—अंब्रिका
पिठे पाय्थोप दोले नामे मधुरिका।
विचित्र पाटेर भुनि मेघगंगाजल
नाना चित्र धौत तरहे देखिते उज्वल।

कपालेते सजाइलो दिया पत्रावलि
एमन सिन्दुरेर फोटा परिला सुन्दरी।

रूपसी नर्तकी की सज्जा में सज्जित गोरख को राजसभा में देख कर उहापोह आरंभ हुआ। इधर गोरख बड़ी विपत्ति में पड़ गये। मनोहारिणी तरुणी के वेश में उन्हें मत्स्येन्द्र के दरबार में प्रवेश का अधिकार तो मिल गया है, परन्तु उनसे बातचीत का अवसर कैसे मिल सकेगा? चारों ओर मधुरभाषिणी नारियाँ विद्यमान हैं। उन्हीं के माया-पाश के विरूद्ध वे बातें करने आये हुए हैं। जरा भी बात करते ही वे अनर्थ कर बैठेंगी। गुरु के कानों में वे पूर्व जीवन की बातें करते हुए आत्मस्मृति का द्वार उन्मोचित करेंगे तथा पूर्व स्मृति जगा कर उनका उद्धार करेंगे, परन्तु उसका कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

सोच-विचार कर गोरखनाथ ने अपने मृदंग को थाप में योग-शक्ति का संचारण किया। उसी ध्वनि तथा सुरलहरी के माध्यम से मत्स्येन्द्र ने शिष्य के आकुल आवेदन को सुना तथा चैतन्य-बोध की उस चेष्टा का उन्हें ज्ञान हुआ। नृत्य तथा मृदंग वादन के माध्यम से गोरख की इस बातचीत की कहानी बड़ी ही अपूर्व है। हमारे ग्राम्य-कवियों की प्रतिभा का स्पर्श पाकर यह कहानी बड़ी ही रसमधुर हो उठी है:—

ढिम ढिम करिया मादले दिलो सान,
कर्णपथे जेनो कत आवृत हइलो प्राण।
तहार पश्चाते वाम मादले दिलो घात,
सवपुरी मोहित करिलो गोरखनाथ।
लंग महालंग दुई दूते बाहे ताल,
झमके झमके शब्द उठे अति भाल।
नाचन्त जे गोरखनाथ मादले करि भरे,
शून्येते नाचते गोरख देखे सर्व नरे।

नाचन्त ज गोरखनाथ घाघरेर रोले,
काया साध काया साध माद लेते बोले।
हातेर ठमके नाचे गाओ नाहिं नड़े,
आपने डुबाइले भरा, गुरु मोछन्दरे।

मृदंग के बोल बार-बार ध्वनित होने लगे और वे मत्स्येन्द्रनाथ की कान में विस्मृत योग साधना के नूतन संकेत के रूप में पहुँचने लगे। काया साधना की सिद्धि एवं योगी जीवन के परम ऐश्वर्य को अपने भाग्यदोष से गुरु ने विस्मृत कर दिया है। इसी कारण शक्तिजर शिष्य गोरखनाथ ने उनके पुनरुद्धार का व्रत लिया है। अंततः उनकी चेष्टा फलप्रद हुई। गुरु के मानसपट पर उनके पूर्व जीवन के विस्मृत अध्याय धीरे-धीरे उन्मोचित होने लगे। रूपसी नारी-कुल का मोहपाश छिन्न करके, उद्धार कर्ता शिष्य का हाथ पकड़ कर वे राजपुरी से निकल पड़े।

कदली राज्य पार करते ही मत्स्येन्द्रनाथ ने अपनी अपरूप लीला-मयमूर्त्ति को धारण किया। देखते ही देखते उनकी स्वाभाविक स्थूल देह ज्योतिर्मय दिव्य देह में परिणत हो गयी, और आकाशमार्ग से वह तीव्र वेग से चल पड़े। योग युक्त होकर गोरखनाथ भी उन्हीं के साथ-साथ उड़ चले।

क्षण भर में ही वे लगभग हजार मील का रास्ता पार कर गये और उसके बाद गोदावरी तट पर एक वन के भीतर उन्होंने भूमि पर अवतरण किया।

सामने ही उस गहन अरण्य के मध्य एक साधारण भजन कुटीर स्थित था। विस्मय से अभिभूत होकर गोरखनाथ ने देखा कि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ स्थूल शरीर में वहीं ध्यानाविष्ट बैठे हुए हैं और उनके सम्मुख कई सेवक भक्त हाथ जोड़ कर बैठे हुए हैं।

उनका विस्मय और गंभीर हो गया जब गुरु की दिव्य देह जिसका अनुसरण करते हुए यहाँ तक आये थे, धीरे-धीरे सामने उपविष्ट गुरु की देह में विलीन हो गयी।

यह कैसा अद्भुत तथा अलौकिक काण्ड है ? गुरुदेव मत्स्येन्द्रनाथ क्या इससे पहले कदली राज्य में नहीं थे ? वहाँ जाकर इतने दिनों तक गोरखनाथ ने जो कुछ देखा तथा जो कुछ किया, क्या यह सब स्वप्न था ? अथवा मात्र उनका माया विभ्रम था ?

गुरू आसाम गये थे या नहीं, इसकी जिज्ञासा करते ही सेवकगण हँस पड़े। उन्होंने कहा "विगत कई वर्षों से वे गोदावरी तट पर इस पवित्र भूमि में ही साधनरत रहे हैं। एक दिन के लिए भी तो उन्हें यह स्थान त्याग करते नहीं देखा गया।"

उसी क्षण गोरखनाथ को यह ज्ञान हो गया कि गुरू ने उन्हें अपनी माया के खेल से विभ्रान्त किया है। कदली राज्य की सारी घटनाएँ उन्हीं द्वारा रचित इन्द्रजाल के सिवा और कुछ नहीं है। साथ ही साथ उनके हृदय में एक तीव्र अनुताप जग उठा। जो गुरु नाथयोग के महासिद्ध तथा महाज्ञान के अधिकारी हैं तथा जी दिव्य देह धारण करके सर्वदा सिद्ध योगियों तथा संन्यासियों को मुक्ति तथा ज्ञान वितरण करते फिरते हैं, ऐसे गुरु का उद्धार करने का प्रश्न ही किस तरह उठ सकता है ? जिसकी कृपा से स्वयं गोरखनाथ को अपरिमेय योगसिद्धि हस्तगत हुई है, उन्हीं महान आचार्य का उन्होंने उद्धार किया है, ऐसे उद्धत विचार उनके मन में किस तरह आ गये ?

ध्यान समाहित मत्स्येन्द्रनाथ ने धीरे-धीरे अपने नेत्र उन्मीलित किए। स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा "वत्स गोरखनाथ, तुम जो भी सोच रहे हो वह सब यथार्थ है। कदली राज्य में मैंने ही मायापुरी का निर्माण किया था, केवल तुम्हारे कल्याण एवं शिक्षा के लिए।"[1]

अनुताप भरे स्वर में, गोरखनाथ ने हाथ जोड़कर कहा, "प्रभु, कदली राज्य छोड़कर आपके गोदावरी तट स्थित इस आश्रम पर पहुँचने के बाद ही मुझमें चैतन्य का उदय हो गया है। मुझे पूर्णतया ज्ञात हो गया है कि आपकी शक्ति और ज्ञान असीम हैं। आपके लिए संसार के मायापाश में बद्ध होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

१. कल्याण, संत अंक-पृ० ४८०-८१ नाथ संप्रदाय के महासिद्ध।

"वत्स, नाथ योगियों की परमकाम्य वस्तु, महाज्ञान, लाभ की योग्यता तुम्हारी हो गयी है। सिद्ध देह से दिव्यदेह में उत्तरण का भी तुम्हारा समय हो गया है। तुम्हारी सप्तधातुमय देह तो सत्य ही योगाग्नि में दग्ध हो चुकी है, परन्तु गोरखनाथ, तुम्हारे इस अध्यात्म रूपान्तर के मार्ग में तुम्हारी अतिरिक्त नैष्ठिकता तथा शुद्धता जनित सूक्ष्म अहंवोध बहुत बड़ी बाधा के रूप में खड़े थे। हमारा नाथधर्म योग तथा तंत्र, इन्हीं युग्म भित्तियों पर प्रतिष्ठित है। वत्स, तुमने तंत्र सिद्धि तथा तंत्र साधना के आचार-आचरण के प्रति अंतर्मन में ताच्छिल्य का प्रदर्शन किया था।"

"आप ठीक ही कह रहे हैं, प्रभु। सहजात् संस्कार के ही वशीभूत होकर संभवतः मैंने यह किया था।"

"हाँ, और इसी कारण मेरे द्वारा प्रचारित कौलयोगिनी तत्व में तुम्हारी प्रचुर गति नहीं हो पायी थी। वत्स, जन्मान्तर के संस्कार भस्मीभूत न होने पर, आत्माभिमान के प्रत्यक्ष काँटे को दूर न करके, नाथ योग की सिद्धि के चरम स्तर पर तुम्हें ले जाना संभव नहीं था। इसीलिए तो मुझ इतना बड़ा काण्ड करना पड़ा।[1] अब तो तुम समझ ही गये हो कि हमारे नाथ मार्ग में त्याग एवं योग का सामरस्य साधन प्रधान लक्ष्य होता है।"

हाथ जोड़ कर तथा नतमस्तक होकर, गोरखनाथ ने गुरु के आदेशात्मक उपदेश को स्वीकार कर लिया। उन्होंने सविनय कहा, "जी, आपका कृपा-स्वरूप आज समझ पा रहा हूँ—

एकहस्ते धृतस्त्यागो योगाश्चैकरे स्वयम्
अलिप्तस्त्याग योगाभ्याम्............।"

१. नासिक तथा बम्बई क्षेत्र में पुरानी जनश्रुति है कि गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने शिष्य के अहंबोध को नष्ट करने के लिए माया-जाल की सृष्टि की तथा रमणियों के मोह में आबद्ध होने की एक मिथ्या लीला अभिनीत की। बम्बई क्षेत्र में जनप्रिय नाटक 'माया-मछेन्दर' में मत्स्येन्द्रनाथ के इसी लीला-माहात्म्य का वर्णन है।

अब गोरखनाथ ने मुक्ति की सांस ली। शुद्ध संस्कार लेकर ही उनका जन्म हुआ है और उसके बाद उन्होंने अपने साधन जीवन की पवित्रता तथा ब्रह्मचर्य की भित्ति और सुदृढ़ किया है। उन्होंने इस जीवन में कृच्छ्र साधन तथा कठोर तपश्चर्या भी कम नहीं की है। इन सभी के फलस्वरूप उनके अवचेतन मन में सूक्ष्म आत्माभिमान का अंकुर अवश्य ही उग गया था। इस बार गुरू ने उसका पूर्णतमा उच्छेद कर डाला तथा शुद्ध आधार पर उन्होंने चैतन्य की ज्योति स्थापित कर डाली।

शिष्य को मत्स्येन्द्रनाथ ने स्नेहपूर्वक निकट बुलाया और कहा, "वत्स गोरख, तुम नवचेतना से उद्बुद्ध हो चुके हो। तुम्हारी काया-साधना अब पूर्णांग हो चुकी है, इसके अलावा ज्ञानयोग के निगूढ़ तत्व तुम्हारी चेतना में उद्भासित हो चुके हैं। अब तुम देश के हर कोने में जाकर नाथ साधन मार्ग के प्रचार के व्रती होओ तथा अधिकारी साधकों में परमतत्व का वितरण करो।"

इतनी लम्बी अवधि के बाद गुरु के दर्शन मिले हैं। अब क्या इतनी जल्दी उनसे विच्छेद भी होगा ? गोरखनाथ के नेत्र अश्रु-सजल हो उठे। परन्तु गुरु के आदेश को शिरोधार्य करने के अलावा उपाय ही क्या था ?

दूसरे ही दिन स्थान त्याग के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं। भक्ति-पूर्वक मत्स्येन्द्रनाथ की चरण वन्दना करते समय ही गुरु कह उठे, "वत्स, तुम्हारा और मेरा विच्छेद क्या किसी तरह संभव है ? तुम्हें मैंने पूर्ण रूप से अंगीकार जो कर लिया है। तुम जहाँ भी और जिस तरह भी रहोगे, मुझे अपने पास ही पाओगे—प्रच्छन्न अथवा प्रकाश्य रूप में।"

इसके बाद गोरखनाथ ने भारत के अनेक तीर्थों के दर्शन किए और इसी सुयोग में अनेक शैव साधकों को दीक्षा तथा साधन का पालन किया। उनकी कृपा-लीला एवं योगविभूतियों के विस्मयकर ऐश्वर्य

उन दिनों नाना स्थानों पर प्रकटित हुए। भक्त जनसाधारण एवं योगी साधकों के मध्य गोरखनाथ की ये कहानियाँ आज भी प्रिय हैं।

गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ महासमर्थ साधक थे एवं तत्कालीन भारत के श्रेष्ठ कौलावधूत थे। उनके द्वारा रचित 'कौल ज्ञान निर्णय' एक अविस्मरणीय ग्रन्थ है। इस देश के शैव, शाक्त एवं बौद्ध साधकों के मध्य इस ग्रन्थ की मर्यादा अपरिसीम है।

नेपाल के रक्षक एवं अभिभावक के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ दीर्घ काल से पूजित होते रहे हैं। नेपाल तथा तिब्बत के बौद्धों के मतानुसार वे प्रभु अवलोकितेश्वर हैं— जिनके ऊपर इस युग के भार वहन करने का दायित्व न्यस्त है। परन्तु नेपाल तथा तिब्बत के बौद्ध गण, मत्स्येन्द्रनाथ को बौद्ध सन्यासी कह कर जितना भी गौरव क्यों न दें, असल में वे बौद्ध थे ही नहीं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसिद्ध कौलग्रन्थ की आलोचना प्रस्तुत करने के कारण, उन्हें कभी भी बौद्ध कहना मान्य नहीं हो सकता। नाथ साधकों के परम श्रद्धेय गुरु के रूप में विख्यात होने पर भी मत्स्येन्द्र बौद्धों के उपास्य देवता रूप में गण्य हुए हैं तथा उन्होंने असामान्य मर्यादा पाई है, यह भी सत्य है। यही उनका वैशीष्ठ्य है।[१]

इसके अलावा गोरख के 'कायाबोध' ग्रन्थ में उनका उल्लेख पशुरंभक अथवा पशुहत्याकारी[२] रूप में पाया जाता है। पशुहत्या से जो संबद्ध हैं उन्हें किसी तरह भी बौद्ध कहना संभव नहीं है।

मत्स्येन्द्रके संबन्ध में इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है— "वे गोरक्ष के गुरु तथा कानफटा संप्रदाय के प्रवर्तक थे। नेपाल में उन्होंने शैव धर्म का प्रचार किया। उन्होंने पाशुपत शैव संन्यासी के रूप में नेपाल में गमन किया, इस मान्यता के साथ उनका शैव विग्रह नेपाल में है। ३"

---

१ शास्त्री : बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ६। २ डॉ० गोपीनाथ कविराज : एस. वी एस—भोल्यूम ६-१९। ३ कल्याणी मल्लिक : नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधन प्रणाली-- पृ० ३३।

कौल साधना की विशिष्ट शाखा, योगिनी-कौल मार्ग, के मत्स्येन्द्रनाथ प्रतिष्ठाता हैं। उसके द्वारा रचित कौलशास्त्र, किसी समय पूर्व एवं उत्तर भारत में काफी प्रचलित था। कौलज्ञान निर्णय का श्लोक—"कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे'– इस प्रसंग में स्मरणीय है।

यह महाकौल साधकों का आदर्श तथा साधन प्रणाली मात्र कामरूप, पूर्व भारत, नेपाल और तिब्बत ही क्यों, सारे भारत के उत्तर पश्चिम और दक्षिणांचल में विस्तारित हो गया था। मत्स्येन्द्रनाथ के साधनऐश्वर्य की ख्याति भारत के सीमान्त कश्मीर के साधक समाज में भी उस समय प्रचलित थी। एकादश शतक के बहुचर्चित साधक एवं दार्शनिक, शैवागम के शक्तिधर आचार्य अभिनवगुप्त की रचनाओं में मत्स्येन्द्र या मच्चन्दविभु के स्तुतिगान का प्रसंग आता है :—

रागारुणः ग्रन्थिविलावकीर्णः
यो जालमातानवितानवृत्तिः।
कलोम्भितः वाह्यपथे चकारस्ताम्रे
स मच्छन्दबिभुः प्रसन्न॥
—(तंत्रलोक १/७)

– जिस तरह जाल बुननेवाला धीवर अपने ताने-बाने से ग्रंथि तथा छिद्रों के साथ एक विचित्र जाल का निर्माण करता है। इसी तरह वाह्य जगत का सृष्टि जाल जो सदा बुनते हैं—वे ही मत्स्येन्द्र विभु मेरे ऊपर प्रसन्न हों।

मत्स्येन्द्र के ही जैसे महासमर्थ और प्रसिद्ध साधक गोरखनाथ भी थे। गुरु से नाथ धर्म की दीक्षा लेकर, गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग पर साधन-भजन समाप्त करके योगी गोरखनाथ ने एक नवीनत साधन मार्ग प्रशस्त किया। वह मार्ग उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा से उज्वल और उनकी असामान्य पवित्रता तथा साधन प्रज्ञा से कल्माणकर था।

ऊर्ध्वरेता महायोगी शिव ही गोरख के इष्ट हैं—जिनके सिर पर रुक्ष जटाओं का भार, कण्ठ में हड्डियों की माला तथा परिधान व्याघ्र-चर्म है। इस त्याग वैराग्यमय इष्ट देव को प्राप्त करने के लिए कठिन वैराग्य के मार्ग का अनुसरण करना ही होगा। इसके अलावा देह-स्थित महावायु पर अधिकार तथा नाथसिद्धि का भी लाभ करना होगा। योग के मार्ग का सर्वथा त्याग करके शरीर के महारस को उर्ध्वायित भी करना होगा। गुरूकृपा प्राप्त शैव योगी को सहस्त्रार क्षरित अमृत पान करके साक्षात शिव ही होना होगा।

शिव-सिद्ध गोरखनाथ अपने अनुयायियों के मध्य शिव की ही वेषभूषा, त्याग वैराग्य एवं शुद्धता का आदर्श स्थापित कर गये हैं। उत्तर काल में नाथ संप्रदाय में अवश्य बामाचार एवं पश्वाचार का मतवाद प्रबल हो गया है, परन्तु गोरख अपने जीवन काल तक कभी भी इन सब को मान्यता देने को प्रस्तुत नहीं थे।

गोरक्ष विजय, मयनामती के गान एवं अन्यान्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि गोरख कामिनी संस्पर्श से मुक्त थे। निष्कामता तथा पवित्रता के मूर्त विग्रह थे। मत्स्येन्द्रनाथ से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने गुरू के कौलाचार एवं तांत्रिक मार्ग का अनुसरण नहीं किया वरन अपने उपदिष्ठ योगमार्ग का ही अनुसरण किया। त्याग एवं वैराग्य के पंथ से शुद्धाचार एवं वीर्य धारण के माग द्वारा नाथसिद्धि में अपनी साधना शक्ति एवं अलौकिक प्रतिभा के बल से वे एक विशिष्ट मार्ग का निर्माण कर गये हैं।

गोरख विजय में उल्लिखित गोरखनाथ के जीवनी में महायोगी के परिशुद्ध साधन जीवन का इंगित मिल जाता है। वहाँ आदि पुरुष के विषय में उल्लेख है—

जटा भेदि निकालिलो यति गोरखनाथ,
सिद्धिर झुलि सिद्धिर कंथा ताहार गलात।

इस ग्रन्थ की कहानी तथा तथ्यों द्वारा महायोगी की एक अपरूप शुचिशुभ्र महिमामय मूर्त्ति हमारे सम्मुख प्रकट होती है। गोरक्ष-चरित्र का मूल्यांकन करते हुए साहित्य गवेषक डाक्टर दिनेश

सेन ने लिखा है,—"गोरक्ष योगी का चरित्र शरत्-शेफालिका अथवा जूही जैसा शुभ्र है। उनका चरित्र माहात्म्य बंग साहित्य के आदि युग का एक प्रधान दिक् निर्देशक स्तम्भ हैं। इसमें बौद्ध युग का चरित्रबल, उच्च नीति, गुरुभक्ति इत्यादि महत्-गुणों का समावेश हैं। जिस तरह विशाल अद्रि श्रेणी बंगदेश की सीमाभूमि है उसी तरह 'गोरख विजय' इस प्रदेश के साहित्य में युग निर्देश का चिह्न है। इस चिह्न के अलावा भिन्न युग एवं भिन्न इलाकों के ब्राह्मण आकर संस्कृत साहित्य का मंथन करते रहे और ग्राम्य भाषा की अवहेलना करके संस्कृत शब्दों द्वारा बंग भाषा को सजाते रहे और कठोर ज्ञानमार्ग एवं चरित्रबल का मार्ग त्याग कर कोमल भक्ति एवं प्रेम-कुसुमाकीर्ण पथ पर लोक रुचि को आकर्षित करते रहे। गोरक्ष भगवती के सारे प्रलोभनों को एक-एक कर जय करके यहूदीश्रेष्ठ जय जैसे अंकुठित रूप से स्थैर्य परायण हैं। नारी रूप का सौन्दर्य तथा प्रेम-निवेदन राह के रोड़ों की तरह बार-बार उनके जीवन में आया, परन्तु प्रत्येक बार उन्होंने शुद्ध स्वर्ण होने की पुष्टि की। पार्वती ने गर्व से शिव से कहा था कि उनकी माया के सामने योगी के साधना की क्या हस्ती है। अन्यान्य योगी गण रूप के जाल में फँस गये, मीननाथ स्वयं मीन के ही सदृश जाल में आबद्ध हो गये थे, परन्तु गोरखनाथ के निकट पार्वती का उन्नत मस्तक नीचा ही रहा।

दसवीं शताब्दी से ही गोरखनाथ सारे भारत में अलौकिक शक्तिधर साधक तथा श्रेष्ठ योगी के रूप के विख्यात हैं। उत्तर तथा पश्चिम भारत में उनका प्रभाव तथा मान्यता असाधारण थी। इन सभी क्षेत्रों के असंख्य गाँवों में उनकी तथा उत्तरकालीन साधकों की महिमा एवं योगसिद्धि की अनेक गल्प-गाथाएँ रचित हुई हैं, जिनसे एक आध्यात्मिक परिपाटी की ही सृष्टि हो गयी है। बंगाल से पंजाब, नेपाल से राजपूताना, सिंध तथा बलूचिस्तान से दक्षिणात्य पर्यन्त, सर्वत्र उनकी साधना एवं सिद्धि की चमत्कारिक आख्यायिकाएँ विद्यमान हैं।

स्वयं योगसिद्धि के शीर्ष पर विराजमान गोरख एक विशाल

शैव योगी संप्रदाय के प्रतिष्ठाता हैं—सर्व साधारण जिनको कनफटा योगी के नाम से जानता है। हठ योग एवं राजयोग पुनरुज्जीवनकारी महासाधक के रूप में इस देश की धर्म-संस्कृति के इतिहास में उनकी कीर्त्ति चिरकाल तक अलग रहेगी।

नेपाल के गोर्खा जाति एवं गोर्खा राज्त के रक्षक एवं अभिभावक महापुरुष के रूप में वे अतुलनीय मर्यादा के अधिकारी हैं। गृहस्थों में कृपालु आश्रयदाता एवं देवविग्रह रूप में भी वहाँ आज तक पूजित होते हैं।[1]

गोरखनाथ की नामांकित बहुत सी सरकारी मुद्राएँ नेपाल[2] के विभिन्न राजाओं के राज्यकाल में लम्बे समय तक चलती आ रही हैं। वहाँ के जनजीवन में गोरखनाथ का माहात्म्य एवं प्रभाव गंभीर रूप से प्रवेश कर चुका है। नेपाल में जनश्रुति है—गोरख एक बार नेपाल वासियों के ऊपर अत्यन्त क्रुध हो गये और वहाँ लगातार बारह वर्षों की अनावृष्टि हो गयी। सारे राज्य में हाहाकार मच गया। इस संकट काल में गोरख के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को दौड़ कर आना पड़ा और उनकी कृपा के फलस्वरूप वर्षा हुई।

गोरखनाथ केवल भारत के विशिष्ट सिद्धाचार्य एवं शैवयोगी के रूप से ही परिचित नहीं है, वरन् इस देश के साधक और साधारण भक्त नर-नारियों की दृष्टि में एक आराध्य देवता के रूप में अधिष्ठित हैं। बहुत से स्थानों पर वे शिव के अवतार रूप में पूजित होते हैं तथा बहुत से शैव मंदिरों में उनकी पूजा भी अनुष्ठित होती है। फिर भी कनफटा नाथ योगियों के मठ मंदिरों में उनके विग्रह की विशेष भक्ति-पूर्वक अर्चना होती है।

गोरखपुर में योगिवर की गद्दी स्थापित है। वहाँ के मन्दिर में उनके 'चरण' देवविग्रह के चरण के रूप में आराधित होते हैं।

---

१. सिलम्यां लेभी : ला'नेपाल— भोल्यूम १, पृ० ३५२।

२. कैटलाग आफ दि क्वायन्स इन दि इंडियन म्यूजियम : भी. स्मिथ, भौल्यू–१ पृ० २८९-९३।

काठियावाड़ तथा सकलद्वीप में भक्तगण उनके 'चरणों की नियमित रूप से पूजा करते हैं।'[1]

योगी शिष्यों ने गोरखनाथ के विग्रह की अनेक स्थानों में स्थापना की है। गोरखमंडी, जो कि पाटन से नौ मील पूर्व की ओर है, सरस्वती नदी के तट पर अवस्थित है। पश्चिमांचल का यह एक बहुत बड़ा नाथ-पीठ है। यहाँ की गुफा में गोरख का विग्रह पूजित होता है। हिमालय के गढ़वाल एवं कुमाँयू के सिद्ध स्थानों में तथा त्रियम्बक में गोरखनाथ की मूर्त्ति श्रद्धापूर्वक रक्षित है। दमदम में गोरख—बाँसुरी की मूर्त्ति कई सौ वर्षों से पूजित होती आ रही है।

भारत के अनेक क्षेत्रों के कालभैरव के मन्दिरों में एवं साधक गुहा के मंदिरों में गोरखनाथ के विग्रह दृष्टिगोचर होते हैं। प्रति वर्ष दांगचांगड़ा से देवी पाटन तक एक प्रस्तर लिंग की शोभा यात्रा निकलती है एवं इसकी पूजा होती है। भक्तों की यही भावना रहती है कि लिंग में गोरखनाथ की अध्यातम सत्ता निहित है। बेलगाँव के कानफटा गुर्खा गोरखनाथ की मूर्त्ति गृहों में एक विशेष स्थान पर स्थापित करके पुष्प-बेलपत्र चढ़ा कर नित्य प्रणाम करते हैं और मन्दिर में पुरोहित द्वारा उनके विग्रह की पूजा निष्ठापूर्वक करते हैं। इन मंदिरों में समारोह पूर्वक शंख-घंटा बजा कर भोगान्न निवेदित किया जाता है एवं पुरोहित तथा भक्तगण सभी मिलकर गोरखनाथ के विग्रह की प्रदक्षिणा करते हैं।

प्रसिद्ध इतालियन पंडित तेसीतोरी के मतानुसार, गोरखपन्थी कानफटा योगीगण प्रधानतः उत्तर भारत से ही सर्वत्र फैले। बौद्ध धर्म के प्रसार के समय योगी गोष्ठियों का अस्तितव अवश्य था, परन्तु प्रभाव एवं स्थायित्व उसी समय कायम हुआ, जब बौद्धवाद जनजीवन से दूर होता गया, और ब्राह्मण धर्म में नवजीवन के लक्षण दिखलाई

१ डाक्टर मोहन सिंह के मतानुसार सकलद्वीप याने शक द्वीप, आधुनिक सियालकोट के निकटस्थ एक स्थान—पृ० ७३।

पड़ने लगे। बौद्धधर्म के प्रचार एवं प्रसार के समय, तत्कालीन समाज के बहुत से योगी साधक इसके गंभीर प्रभाव से अनिवार्यतः आकर्षित हो गये थे। यह गोरखनाथ जैसे धार्मिक नेता का कार्य था जिन्होंने बौद्ध समाज में विलीन योगियों को बाहर निकालने का कार्य सम्पन्न किया तथा नवीन एवं समृद्धतर आध्यात्मिक छत्रछाया प्रदान करके उन्हें एकत्रित किया।[1]

चालू नाथधर्म एवं योगमार्ग को उपनिषद के दर्शन एवं साधन के साथ जोड़ने का कार्य भीं इन महान शैवयोगी का महान कार्य था। गोरखनाथ का आविर्भाव आचार्य शंकर के बहुत बाद नहीं हुआ था और ब्राह्मण जागृति से प्रेरणा पाकर ही उन्होंने नाथपन्थ के पुनर्गठन का प्रयास आरंभ किया था, यह भी निश्चित रूप से ही कहा जा सकता हैं।

गोरखनाथ के नूतन धर्म आन्दोलन का एक और वैशिष्ट्य था— इसमें जाति तथा वर्ण का कोई विचार नहीं था। इष्टदेव शिव की उपासना करने के लिए सभी को समान अधिकार थे। अवधूत तथा नाथ होने की योग्यता एवं जीव मुक्त होने के अधिकार सभी साधकों को थे। प्रयोजन इतना ही था कि समर्थ गुरु के निर्देशानुसार एकनिष्ट भाव से साधना करते जाना।

मध्ययुग में रामानन्द, कबीर, नानक, चतन्य इत्यादि के आन्दोलन के फलस्वरूप जाति, गोत्र के बंधन से परे सर्वजनीन मुक्ति का आह्वान स्पष्ट रूप से मुखर हो उठा था। इनके पूर्ववर्ती गोरखनाथ एवं गोरखपन्थी योंगी साधकों की उदार भावधारा से मध्ययुग के धर्माचार्यों में से अनेक अवश्य ही प्रभावित हुए होंगे और उन्हें व्यापक आध्यात्मिक जीवन की भित्ति निर्माण करने में प्रेरणा मिली होगी।

उज्वल व्यक्तित्व, संगठन शक्ति एवं साधन सिद्धि के ऐश्वर्य के कारण गोरखनाथ दशम एवं एकादश शतक के श्रेष्ठ धार्मिक नेता थे।

---

१. ल० पां० तेसीतोरी—(योगी कानफटी) इ० आर० ई : पृ० ८३४।

उनकी प्रतिष्ठा एवं माहात्म्य उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से भी अधिक हो गयी थी। पंडित प्रवर जी ए. ग्रियर्सन के मतानुसार—इस देश की समस्त लोकगाथाओं तथा आख्यायिकाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिष्य गोरखनाथ अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की अपेक्षा बहुत अधिक कीर्त्तिवान थे और वे ही कर्णवेधयुक्त कानफटा योगी संप्रदाय के आधिकारिक प्रवर्तक एवं धारक-वाहक थे।

कानफटा गण मूलतः शैव हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। उनके इष्ट शिव हैं, जो ऋगवेद में रूद्ररूप से वंदित हैं। ये रूद्र ध्वंस के प्रतीक हैं तथा महा भयंकर हैं। यजुर्वेद के पहले पहल वे ईश्वर एवं महादेव के नाम से संबोधित होते दृष्टिगोचर होते हैं। अथर्ववेद एवं ब्राह्माणों में वे पशुपति में रूपान्तरित हो जाते हैं—पशुजगत के अधिपति। उपनिषदों में दिखलाई पड़ता है कि यही देवता रुद्र, जगतस्रष्टा, देवाधिदेव तथा परमपुरुष के रुप में मान्य हैं।

गोरखनाथी योगी गण शिव रुद्ररुप अर्थात् भयानक सर्व्वध्वंशी रुप की ही उपासना की प्रधानता देते हैं। महत् भयः वज्रः समुद्यतः इसी रूप का मनन तथा चिंतन उनके लिए विशेष रुचिकर है। उनके लिए काल भैरव का विग्रह अत्यन्त प्रिय है। योनि-लिंग एवं शक्ति उपासना के लिए भी उनका प्रचुर उत्साह हैं।[२] फिर भी भी ये शिव का जगत के स्रष्टा, जीव के चैतन्यदाता एवं मंगलदाता परम पुरुष के रूप में आराधना करते हैं।

---

१. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स-पृ० ३२९।

२. गोरखनाथ के कानफटों के मध्य कई दलों ने तृतीय एवं चतुर्थ शतक से वामाचार की साधना ग्रहण कर ली। बंगाल तथा हिमालय के क्षेत्रों में पहले इनका प्रभाव अधिक था। इनके पंच मकार साधना ये है– मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन—मद्य मांसस्य मुद्रा मैथूनयेव मकारपंचकश्चैत् च महापातक नाशनम्—उत्तर कालमें योग, तंत्र एवं बौद्धवाद का मिश्रण इनमें उपस्थित हो गया। —ब्रिगसे : पृ० १९२

शिव का सर्वत्यागी, महावरागी रूप ही इन योगियों को प्रिय है। स्वरुप का वे मात्र ध्यान, मनन ही नहीं करते, वरन चेहरे तथा साज-सज्जा में भी इसका अनुकरण करते हैं।

नाथ धर्म के तत्व एवं साधन के साथ बौद्ध तंत्र का सादृश्य देखकर अनेक लोगों की धारणा हो जाती है घटनाचक्र के साथ बौद्ध तंत्र से विच्छिन्न होकर इसने शैव धर्म का रुप धारण कर लिया है। परन्तु इस धारण से कोई यथार्थता नहीं है। असल में नाथधर्म भारत के अति प्राचीन सिद्ध-मत से उद्भूत हुआ है और यह उसका ही एक परिवर्त्तित रूप है। इस संप्रदाय के सिद्ध योगी गण रसायन तथा हठयोग के ऊपर विशेष बल देते थे और इसी साधना को काया साधना के नाम से संबोधित किया जाता था। इस साधना के फलस्वरुप साधक का शरीर परिपक्व तथा परिप्राण विहीन हो जाता तथा वे जरा-मरणहीन अमर जीवन का लाभ करते।

योग शास्त्र के श्रेष्ठ प्रवक्ता एवं संकलक ऋषि पतञ्जलि ने भषज तथा रसायन के प्रयोग से योग सिद्धि अर्जन करने की प्रणाली का भी उल्लेख किया है। योगसूत्र के कैवल्य पाद का - जान्मोषधि-मन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः, मंत्र स्पष्ट है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महामुनि व्यास एवं वाचस्पति ने कहा, औषधि द्वारा सिद्धि की बात कहते हुए भगवान पतञ्जलि ने उन्हीं योगियों की बात का उल्लेख किया है जो रसायन के प्रयोग द्वारा आप्तकाम होते हैं। औषधि के सम्बन्ध में इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता कि सिद्ध मार्ग तथा उसकी शाखा नाथमार्ग पतञ्जलि से पहले भी प्रचलित था।

कायासाधन तथा रसायन प्रयोग के मार्ग का अनुसरण करते हुए भी नाथ योगी गण, विशेषतः गोरखपन्थी कानफटा गण, प्रधानतः शैववाद एवं राजयोग की धारा का अवलम्बन करके ही अग्रसर होते रहे थे। नाथधर्म के मूल प्रवक्ता हैं शिव, एवं इस संप्रदाय के सबसे विख्यात तथा शक्तिधर योगी गोरखनाथ को, साधकगण शिव का

अवतार ही मान कर स्तुति तथा आराधना करते हैं। इस धर्म के अनुगामियों के इष्ट विग्रह शिव हैं। कानफटा साधक, सन्यासी तथा योगीगण जिन स्थानों में तीर्थ यात्रा करने जाते हैं, वहाँ शैवों का ही प्राधान्य है तथा मंदिरों में भी शिवमूर्त्ति अथवा लिंग विराजित है। वेश-भूषा की दृष्टि से भी नाथ योगीगण सदा योगीश्वर शिव का ही अनुकरण करते हैं। शिव की सिद्धि और गंजिका का सेवन तथा शिव को प्रसन्न करने के लिए बम-बम शब्द के उच्चारण से वे उल्लसित हो उठते हैं।

मात्र नाथपंथी साधकों में ही नहीं, भारत के नाना श्रेणी के शैव उपासकों के लिए योगिवर गोरखनाथ का प्रभाव अपरिसीम है। बुद्ध के परवर्ती युग में एक मात्र आचार्य शंकर के अलावा और कोई धर्मनेता उनके जैसे, इस देश के धर्म तथा सामाजिक जीवन में इस तरह दूर प्रसारी प्रभाव विस्तारित करने में सफल नहीं हो सके।

शंकर का चामात्कारिक व्यक्तित्व, प्रज्ञा एवं दार्शनिक अभिव्यक्ति के आलोक ने सारे भारत के शाश्वत जीवन को उद्भासित कर दिया था। उपनिषद्, वेदान्त और गीता के जिस ज्ञानमार्गी भाष्य का उन्होंने प्रचार किया उससे इस देश-धर्म के जीवन में नवीन प्राणशक्ति का संचार हो गया।

उनकी तुलना में गोरखनाथ का भी अवदान कम नहीं है। हमारे देश के धार्मिक जीवन को उन्होंने भी प्रबल प्राण-स्पन्दन से भर डाला और इस महान कार्य को सिद्ध शैवयोगियों के निगूढ़ साधन तत्व के प्रचार के माध्यम से ही किया। उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त की प्रामाणिकता के वे प्रबल समर्थक थे तथा उनका यथायोग्य सम्मान भी देते वे, परन्तु उनका अधिक झुकाव योगक्रिया तथा योग सिद्धियों के ऊपर ही था।

शंकर ईश्वर प्रदत्त अतुलनीय दार्शनिक प्रतिभा के अधिकारी थे तथा उनका प्रभाव विशेष रूप ने आचार्यों तथा चिंतकों के माध्यम से ही विस्तारित हुआ। उनके द्वारा प्रतिष्ठित चार मठों के सन्यासी-वर्ग तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यगण ने जनजीवन को नवप्रेरणा से उद्बुद्ध करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गोरखनाथ की कार्य प्रणाली का रूप भिन्न था। वे तथा उनके उत्तरकालीन साधक गण योग एवं तंत्र के निगूढ़ साधना-मार्ग के वाहक बने—आश्चर्यजनक एवं अलौकिक सिद्धि के मार्ग से।

गोरखनाथ के काल-निर्णय के सम्बन्ध में विशिष्ट गवेषकों के भिन्न मत हैं। पंजाब उनकी पुण्यमय लीलाओं का एक प्रधान स्थान है। वहाँ की जनश्रुति एवं गल्पकथाओं में उनके कृपा-धन्य शिष्य गूगा, पूरन भगत, राँझा और रसाल की अनेक मनोहर कहानियाँ विद्यमान हैं। इन सभी शिष्यों का ऐतिहासिक काल अष्टम से एकादश शतक तक है। इसलिए किसी भी तरह गोरखनाथ को इनके परवर्ती काल का मानना न्याय संगत नहीं है।

गोपीचन्द्र, भतृहरि, भोज, रानी पिंगला इत्वादि से संवन्धित कहानियों का काल विचार करने से योगिवर गोरखनाथ के आविर्भाव का काल एकादश शतक से पहले का मानना पड़ेगा।

कबीर तथा सिख-धर्म गुरु नानक के लेखों में उनका प्रचुर उल्लेख मिलता है। 'गोरखनाथ की गोष्ठी' में गोरखनाथ के साथ कबीर तथा नानक की वार्ता दी हुई है। विल्सन इत्यादि पंडित इस वार्तालाप के आधार पर मत प्रकट करते हैं,— गोरखनाथ, कबीर एवं नानक प्रायः समकालीन हैं। परन्तु गोरखनाथ की गोष्ठी' की ये सभी बातें कदापि सत्य नहीं हैं वरन् परवर्त्ती काल के भक्तों की मात्र कल्पनाएँ हैं। कबीर, नानक के दोहे एवं समकालीन साहित्यिक तथ्यों द्वारा पूर्णतया प्रमाणित है कि गोरखनाथ का आविर्भाव कबीर तथा नानक के कई शताब्दी पूर्व हुआ था।

राजपूताने की लोक गाथाओं में गोरखनाथ और वाप्पा रावल की

अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। महायोगी के कृपास्वरूप बप्पा को दुधारी तलवार की प्राप्ति हुई थी और उनके आशीर्वाद से वे मेवाड़ के सिंहासन पर अधिकार कर सके। बप्पा रावल के राज्यकाल का आरंभ अष्टम शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ था। राजस्थान का यह ऐतिहासिक तथ्य मान लेने पर गोरखनाथ का काल अष्टम शताब्दी में पहुँच जाता है।

बंगला साहित्य, लोकगाथा एवं किंवदन्तियों से गोरखनाथ और उनके संप्रदाय के संदर्भ में बहुत मूल्यवान तथ्यों का संधान मिलता है। प्रधानतः पाल राजाओं के राज्यकाल में योगी साधकों के प्रभाव की वृद्धि हुई थी और पाल वंश का अवसान हुआ था १०९५ साल में। उत्तरबंग के कानफटा योगीगण मानिकचन्द के संबन्ध में गीत गाते हुए घूमते-फिरते थे और ये सभी शैव थें। शिवकल्प योगी गोरखनाथ की ही वे गुरु रूप में पूजा करते थे।

धर्म मंगल - मीननाथ, गोरखनाथ, हाड़िपा, कानुपा इत्यादि बहुत से सिद्ध साधकों का उल्लेख देख कर ज्ञात होता है कि नाथ-योगियों के साधन-तत्व और अलौकिक सिद्धाई की अनेक विचित्र कहानियाँ बंगाल के जनजीवन के स्तर-स्तर में परिव्याप्त हो उठी थी।

नेपाल की परंपरागत कहानियों तथा गाथाओं इत्यादि से ज्ञात होता है कि गोरख के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव तथा योग साधना के विस्तार की कहानियाँ उस देश में अष्टम शतक के अंतिम चरण से प्रचलित है। इस तथ्य को मान लेने पर गोरखनाथ के काल को इससे अधिक पीछे ले जाना संभव नहीं है।

'वंशावली दवितोया' में उल्लेख आता है कि मत्स्येन्द्र गोरखनाथ के साथ साक्षात्कार करने के लिए राजा वरदेव के समय में आये थे। वरदेव अष्टम शतक के मध्य भाग से पूर्व ही परलोग गत हो चुके थे एवं उनके राजवंश की जो सब मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, उनके काल का

१. डाक्टर दिनेश चन्द्र सेन : हिस्ट्री आफ बंगाली लेंग्वेज एण्ड लिटरेचर—पृ० २८-२९।

निर्णय हुआ है ६३५ से ७५१ साल के मध्य।[१] अनेक लोगों की धारणा है कि वरदेव के वृद्ध पिता नरेन्द्र देव के ही समय में गोरखनाथ का नेपाल में आगमन हुआ था। यह अष्टम शताब्दी का मध्यकाल ही निर्धारित होता है।[२]

शिलामूर्त्तियों के कितने ही प्रमाण उपलब्ध है जो गोरखनाथी योगी संप्रदाय के काल निर्धारण में यथेष्ट सहायक होते हैं। साधारण रूप में यह बात सर्वमान्य है कि योगियों में कर्णवेध की प्रथा का प्रवर्तन मत्स्येन्द्र एवं गोरखनाथ के द्वारा ही हुआ था। एलोरा के गुफा मंदिर से कैलास पर शिव की एक योगसमाहित भव्य मूर्त्ति उत्कीर्ण है तथा मूर्त्ति के कानों में वृहदाकार कुण्डल है। इस मंदिर की स्थापना अष्टम शताब्दी के प्रथम चरण में हुई थी। सालसेट द्वीप में भी एलोरा के अनुरूप कर्णकुण्डल युक्त योगेश्वर शिव की एक मूर्त्ति विराजित है। वहाँ के तथा एलोरा के मन्दिर समकालीन हैं। उत्तर आर्कट में परशुरामेश्पर मंदिर की प्रचुर प्रसिद्धि है। यहाँ के लिंग-शरीर पर एक खुदाई की हुई योगी मूर्त्ति विद्यमान है। इसके कानों में भी कुण्डल पहनाये हुए हैं। विशेषज्ञों की राय में पवित्र लिंग द्वितीय या तृतीय शताब्दी के बाद का नहीं है। इन सारी प्रस्तर उत्कीर्ण प्रमाणों से कानफटा योगी संप्रदाय की प्राचीनता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

महान पंडित ब्रिगस स्थिर करते हैं कि गोरखनाथ का जन्मकाल किसी भी तरह द्वादश शतक के बाद का नहीं हैं, वरन् उनका आविर्भाव एकादश शतक के प्रथम भाग में ही हुआ था।[४] हिन्दी तथा पंजाबी साहित्य एवं जनश्रुतियों के आधार पर डा० मोहन सिंह का मत है।

---

१. शहर : हिस्ट्री आफ नेपाल—पृ० ३१। २ लेभी : ला नेपाल भोल्यूम १।

३. Until furthes data are discovesed, conclusion must be that Gorakhnath lived not later than A. D. 1200, probably early in the eleventh century, and that he came originally from Eastern Bengal.

४. Briggs ; Gorakhnath and Kanfatta Yogis-P. 250

कि गोरखनाथ नवम अथवा दशम शताब्दी में विद्यमान थे। बंगला साहित्य के विशिष्ट गवेषक डाक्टर दिनेश सेन ने इस सन्दर्भ में जिन तथ्यों को उपस्थित किया है, वे भी प्रमाणित करते हैं कि गोरखनाथ का आविर्भाव दशम शताब्दी में हुआ था। उत्तर और पूर्व भारत के लोक साहित्य, परंपराएँ, इतिहास तथा धर्मान्दोलनों के तथ्यों पर विचार करने से भी यही मत समीचीन दृष्टिगोचर होता है।

शिव कल्प महायोगी गोरखनाथ की कृपालीलाओं का विस्तार सारे उत्तर तथा पश्चिम भारत में हुआ है और इस कृपा धारा का वर्षण राजा, प्रजा, ब्राह्मण, अंत्यज, सभी के ऊपर समान भाव से हुआ है।

पूर्व बंगान अथवा बंगाल की रानी, सिद्धयोगिनी मैनामती उनकी विशिष्ट प्रिय शिष्याओं में से थी। इन्हीं मैनामती तथा उनके साधक पुत्र गोपीचन्द्र की कहानी बंगला तथा भारत के अध्यात्म साहित्य की अक्षय संपदा के रूप में सुरक्षित हैं।

गोपीचन्द्र की राज्य सीमा विक्रमपुर से त्रिपुरा तक फैली हुई थी और समग्र उत्तर बंग के विशाल भूखण्ड पर उनका अधिकार था। जिन दिनों दो रुपसी, नवयौवना पत्नियों के साथ वे राज ऐश्वर्य तथा चरम भोगविलास का जीबन व्यतीत कर रहे थे, उसी समय उनकी योगसिद्धा माता ने उन्हें संन्यास ग्रहण के लिए उद्बुद्ध किया। राजा गोपीचन्द के सिंहासन त्याग एवं संन्यास ग्रहण की करुण कहानी बंगाल के लोक कवियों की काव्यकथाओं में उज्वल एवं प्राणस्पर्शी हो मुखर हो उठी हैं, और यह कहानी समग्र भारत में नाना भाषाओं में विचित्र लोक गाथा, काव्य तथा नाटकों के माध्यम से प्रचारित हो गयी है।[1] विशेष रूप से उत्तर भारत के योगी-गायक एवं सारंगियों के गायन का करुण संवेदन आज भी जनसमाज का चित्त विगलित कर देता है। गल्प रसकी

---

१. इस प्रसंग में हिन्दी 'गोपीचन्द की गोष्ठी', मराठी कवि महीपति की सप्तलीलामृत एवं पंजावी गोपीचन्द नाटक; उड़िया भाषा का गोविन्दचन्द्र गीति इत्यादि उल्लेखनीय है।

प्रगाढ़ता और मर्मस्पर्शी प्रस्तुति में यह कहानी अतुलनीय है। सैकड़ों वर्षों से बंगाल के इन राजा के संन्यास ग्रहण की कथा, लाखों ग्रामीण नर-नारियों के चक्षुओं से आज भी अश्रुधारा प्रवाहित कर देती है।

मैनामती गान की भूमिका में डाक्टर महशाली ने लिखा है, 'गोविन्द चन्द्र (गोपीचंद) जैसे अठारह वर्ष के एक भाग्यवान युवक के लिए राज्य-धन तथा सुख संपत्ति सभी का परित्याग करके संन्यासी हो जाने जैसी करुण घटना संसार में यदा कदा ही घटित होती है। ऐसी घटनाएँ गोपीचन्द से पूर्व और बाद में भारतवर्ष में एक दो बार ही हुई थी।" यहाँ लेखक का इंगित त्यागव्रती महासाधक द्वय बुद्ध एवं चैतन्य की ओर है। परन्तु मैना-गोपीचन्द की कहानी की विशेषता यह है कि इसमें उनकी माता ने स्वयं पुत्र को सिंहासन का त्याग करके संन्यास की ओर जाने के लिए प्रोत्साहित किया था।

मैनामती त्रिपुरा के राजा तिलकचन्द्र की कन्या थी। एक बार पूर्व भारत का परिव्रजन करते हुए गोरखनाथ त्रिपुरा में उपस्थित हुए। राजा पहले से ही उनकी योग-विभूतियों की ख्याति से अवगत थे। वे भक्ति तथा आदर पूर्वक उन्हें राजप्रासाद में ले आये।

किशोरी राजकन्या शिशुमती के आ कर प्रणाम करते ही महायोगी चोंक पड़े। यह बालिका तो सामान्य स्त्री नहीं है। अध्यात्म साधना के लिए तो इसका बहुत ही शुद्ध आधार है। उसके सारे शरीर में सिद्धा योगिनी के लक्षण विद्यमान हैं। गोरखनाथ की कृपापूर्ण दृष्टि उसके ऊपर पड़ी, और उन्होंने कहा कि वे किशोरी शिशुमती का दीक्षा तथा योगसाधना का निर्देश प्रदान करेंग।

राजा तिलकचन्द्र तथा उनके परिजन तो अवाक रह गये। राजा ने सविनय निवेदन किया, "प्रभु, मेरी शिशुमती तो अबोध शिशु ही है। इस वय में वह साधना की कठोरता किस प्रकार सहन कर सकेगी? योग क्रिया के निगूढ़ रहस्यों को यह किस प्रकार समझ पायेगी?"

गोरखनाथ ने दृढ़ स्वर में कहा, "महाराज, आप शिशुमती के पिता अवश्य हैं, परन्तु उनके संबन्ध में आपको कोई जानकारी नहीं है। जानने लायक दृष्टि भी आपके पास नहीं है। पूर्व जन्म में वह क्या थी, साधना के किस उच्च शिखर पर अवस्थित थी, उसे आप क्या बता सकते हैं ?"

"जी नहीं, हमलोग संसारी जीव हैं। हमलोगों की दृष्टि इतनी दूर पहुँचेगी भी कैसे ?"

"शिशुमती के अंतरजीवन के विषय में तथा वर्तमान एवं सुदूर भविष्य की जानकारी की शक्ति क्या आपके पास है ?"

"नहीं, प्रभु" ।

"महाराज, मुझे उसके बारे में सारी जानकारी है। पूर्व जन्म के असामान्य साधन-संस्कार लेकर उसने जन्म ग्रहण किया है। उसे मात्र चिह्नित सद्गुरु की स्पर्श-दीक्षा तथा योगक्रियाओं के अनुशीलन की आवश्यकता है।"—मुस्कुराते हुए महायोगी गोरखनाथ ने कहा।

शुभलग्न में किशोरी शिशुमती की दीक्षा संपन्न हुई। गोरखनाथ ने उसका नवीन नामकरण किया मैनामती। अल्पकाल में ही अविश्वसनीव द्रुतता से मैनामती गुरु द्वारा प्रदर्शित योग-साधना में पारंगत हो गयी। ईश्वर निदिष्ट इस कर्म के समापन पर योगिवर गोरखनाथ तिलकचन्द्र के प्रासादका त्याग करके चले गये।

गोरख के कृपास्वरूप, अल्पकाल में ही मैनामती के योगासिद्ध जीवन के अध्याय एक के बाद एक उन्मोचित होने लगे तथा नाथ योगियों के परम आकांक्षित महाज्ञान का लाभ करके वे धन्य हो गयीं।

कई वर्ष बाद हमलोग साधिका मैनामती को बंगाल के राजा मानिक चन्द्र की राजमहिषी के रूप में देखते हैं। इन्हीं मानिकचन्द्र के ही पुत्र हैं—राजसन्यासी गोविंदचन्द्र या गोपीचंद।

गोरख के कृपा-धन्य इस राजवंश का परिचय देते हुए डाक्टर दिनेश सेन लिखते हैं, "इनके (गोपीचन्द के) पितामह का नाम

सुवर्ण चन्द्र था। हमलोगों को बंगाल के राजा सुवर्ण चन्द्र के नाम के ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। ताम्रपत्र में त्रैलोक्य चन्द्र के भी नाम का उल्लेख है। ये दोनों नाम गोपीचन्द्र के गीतों में कहीं-कहीं हमें मिल जाते हैं। श्रीचन्द्र के ताम्रपत्रों में उल्लिखित अल्पसंख्यक नामों में दो नामों का गोपीचन्द्र के पूर्वजों से ऐक्य हो जाता है. इसलिए गोपीचन्द्र[1] तथा मानिकचन्द्र को श्रीचन्द्र के वंशज होने का अनुमान सहज ही हो जाता है। नवद्वीप का सुवर्ण विहार संभवतः इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित है। इस बिहार के समोप पूर्णचन्द्र के राजप्रासाद के किंचित अवशेष आज भी विद्यमान हैं और शिलालेखों में जो तिथि पायी गयी है वह ताम्रपत्रों की तिथि का समर्थन करती है।

इनके राज्य के विस्तार के संबन्ध में उनका मत है, 'मानिकचन्द्र को दहेज के रूप में मेहेर कुल (त्रिपुरा राज्य) का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ तथा पिता का राज्य विक्रमपुर तो था ही। इस तरह दोनों राज्यों पर उनका आधिपत्य हो गया। उनकी राजधानी पटिका आज भी विद्यमान है। त्रिपुरा के पार्श्व में जो विस्तृत शैलमाला दृष्टि-गोचर होती है, वह मैनामती के नाम के संबोधित होती है। इस तरह तिलक चन्द्र की कन्या के नाम को यह आज भी याद दिला देती है। इस राज्य के अलावा, गोविन्द चन्द्र गौड़ के समीपवर्त्ती उत्तर वंग के अनेक भागों से इजारा प्राप्त करते थे। इसलिए रंगपुर इत्यादि क्षेत्रों में भी उनकी कीर्ति-कथा उजागर है।"

विवाहित जीवन में भी मैनामती की इच्छा थी कि उनके स्वामी भी उन्हीं के जैसे महायोगी गोरखनाथ द्वारा प्रदत्त साधन ग्रहण करें, तथा उनके जैसे ही योग सिद्धियों का लाभ करें। परन्तु गोरख

---

१. गोपीचन्द्र के शासन काल के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं—'मानिकचन्द्र के पुत्र गोविन्द चन्द्र को दक्षिणात्य के राजेन्द्र चोल ने पराभूत किया था। उनकी जयगाथा तिरुमलाई के शिलालेखों में उत्कीर्ण है; राजेन्द्र चोल का राज्यकाल १०६३ ई० से १११२ ई० तक था।"—बंग भाषा एवं साहित्य : डा० दिनेश सेन।

उत्तर भारत में निवास कर रहे थे और अनेक दिनों से उनसे साक्षात नहीं हुआ था। एक दिन मयनामती ने प्रस्ताव किया, "भाग्यवश गुरु की कृपा का मुझे यथेष्ट लाभ हुआ है। योगकृपा की प्रणाली का मैं स्वयं ही तुम्हें दिग्दर्शन करा सकती हूँ। इस साधन में सिद्ध हो जाने पर तुम रोग एवं जरा-वार्धक्य से छुट्टी पा सकते हो। इसके अलावा, मृत्यु को भी इच्छानुसार दूर रख सकोगे। योगबल से मुझ ज्ञात हो चुका है कि तुम्हारी आयु बहुत ही कम है। प्रभु गोरखनाथ का साधन ग्रहण कर लेने से एवं उनके कृपास्वरूप तुम्हारा कल्याण ही होगा। मुझसे ही एक-दो प्रक्रियायें सीख लो।"

"क्या कहती हो ? मेरा इतना दुर्भाग्य है कि अन्त में स्त्री से योग-साधना का निर्देश लेना होगा ? स्त्री ही मेरी गुरु होगी ? इस तरह की बात तुम कभी जबान पर भी न लाना"—इस तरह मैनामती की बात को मानिकचन्द्र टाल गये।

गोरखनाथ द्वारा प्रचारित योग साधना का मार्ग उन्होंने कभी ग्रहण नहीं किया। अन्ततः मयनमती का जो भय था, वह चरितार्थ हो ही गया। राजा मानिकचन्द्र अकाल मृत्यु के ग्रास में चले गये। स्वामी की मृत्यु के समय मैनामती के गर्भ में एक पुत्र-संतान था। यही पुत्र बाद में भारत में राज संन्यासी गोपीचन्द या गोविन्द चन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उन्हीं दिनों मयनमती के जीवन में महान संकट उपस्थित हुआ। एक ओर यह विस्तीर्ण अरक्षित तथा नेतृत्वहीन राज्य था, तो दूसरी ओर राजप्रासाद के अन्दर उनकी सौतों ने कुटिल षड़यन्त्रजाल की सृष्टि कर डाली थी। इस विकट परिस्थिति में एक दिन राजधानी पटिका में योगी गुरु गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ।

शिष्या को अभयदान करने के बाद गुरु ने कहा, "मयना, इस संकट काल में तुम्हें राज्य-तरी की पतवार दृढ़तापूर्वक धारण करनी होगी। तुम्हारी गोद में जो सन्तान आने वाला है उसको मनुष्य बनाने

का पूर्ण दायित्व तुम्हारे ऊपर ही है। तुम्हारी यह संतान सिद्ध योगी के पूर्व संस्कार लेकर जन्म ग्रहण कर रहा है। उसे पूर्ण परिणति के मार्ग पर अग्रसर कराने का सारा दायित्व तुम्हारा ही है। स्वामी को तो तुम साधन मार्ग पर ला नहीं सकी, इस पुत्र के माध्यम से तुम्हारी वह आशा पूर्ण होगी। भविष्य में वह एक विशिष्ट नाथसिद्ध के रूप में प्रतिष्ठित होगा।"

मयना के दोनों नेत्रों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। उन्होंने कहा, "प्रभु, आपकी बात सुन कर इतनी बड़ी विपत्ति में भी मुझे आशा की किरण दिखलायी पड़ रही है। परन्तु, इस वृहत् राज्य की परिचालना का भार कौन लेगा ? मेरे लिए तो यह गुरु दायित्व वहन करना संभव नहीं है।"

"वत्से, तुम्हें ही इस कार्य में अग्रसर होना होगा। पुत्र के वयस्क न होने तक तुम्हें सारे राज्य-कार्य संपादित करने होंगे। इस बात का भी ध्यान रखना कि किसी भी संकट काल में तुम मेरे प्रिय शिष्य जालन्धरी पाद से सहायता तथा परामर्श पा सकोगी। नीच जाति का होते हुए भी उसने योग सिद्धियों के कारण इस राज्य के साधारण मनुष्यों में विपुल श्रद्धा अर्जन की है। यहाँ उसका प्रभाव तथा प्रतिपत्ति भी यथेष्ट है। उसका परामर्श लेकर कार्य करने से तुम्हारा गुरु भार हल्का ही होगा।"

"और पुत्र को मनुष्य बनाने का दायित्व ?"

"हाँ, वह भी तुम्हारा ही है। मयना, इस संदर्भ में एक और बात तुम्हें बता जाता हूँ। तुम्हारा यह पुत्र अठारह वर्ष की आयु तक भोग तथा सुख के ही वातावरण में लिप्त रहेगा। परन्तु उसके बाद मैं देख रहा हूँ कि उसकी आयु समाप्त हो जायगी। फिर भी यदि वह अठारह वर्ष की आयु में ही नाथ योग की दीक्षा तथा साधन ग्रहण करके संन्यास ले ले तो देवाधिदेव की कृपा से वह अधिक दिनों तक बच सकेगा।"

"प्रभु, इस बात का मुझे सर्वदा स्मरण रहेगा।"

"एक और बात का स्मरण रखना। तुम्हारा गुरुभाई, जालन्धरी पाद ही उस समय तुम्हारे पुत्र को दीक्षा तथा सन्यास प्रदान करेगा।" इतनी बात कहने के बाद गोरखनाथ ने उस स्थान का त्याग कर दिया और पश्चिम भारत की ओर परिव्राजन के लिए निकल पड़े।

गुरु के इस निर्देश का मयनामनी ने निष्ठापूर्वक पालन किया। पति के राज्य के संचालन के साथ-साथ, उन्होंने प्राणपण से पुत्र को मनुष्य बनाने में समय लगाया।

गोपीचन्द के युवा होने पर राज्यभार उनके कन्धों पर आ गया। साभार के राजा हरिचन्द्र की दो रूपसी कन्याओं, अदुना तथा पदुना, से विवाह करके वे उन्हें अपने घर लाये। राजवैभव, विलास-व्यसन तथा नवपरिणीता पत्नियों के बीच उनका समय आनन्दपूर्वक व्यतीत होने लगा।

गोपीचन्द के अठारह वर्ष पूर्ण होने को आये। जननी मयनामती पहले से ही सतर्क थीं। पुत्र को एकान्त में उन्होंने अपने पास बुलाया। शांत स्वर में उन्होंने कहा, 'वत्स, इतने दिनों तक यथासाध्य मैंने तुम्हें मनुष्य बनाने की चेष्टा की है और गुरु गोरखनाथ जी की कृपा से वह चेष्टा काफी अंशों तक फलवती भी हुई है। अब मैं तुम्हारे सम्बन्ध में गोरख प्रभु की एक भविष्यवाणी का उल्लेख करूँगी।"

"मां, मुझसे स्पष्ट कहो, योगिवर ने मेरे सम्बन्ध में क्या कहा था?"—गोपीचन्द्र ने कौतूहल पूर्वक प्रश्न किया।

जननी ने कहा, "गोरखनाथजी ने कहा था, अठारह वर्ष पूर्ण होने के बाद ही तुम्हें संसार-धर्म का त्याग करके संन्यास ग्रहण करना होगा। योगी जालन्धरीपाद से दीक्षा तथा साधन ग्रहण करके तुम्हें योग सिद्ध होना होगा। इसके अलावा प्रभु ने यह भी कहा था कि इस आदेश के पालन न करने पर बहुत अल्प समय में ही तुम्हारे जीवन का अन्त हो जायगा। वत्स, मेरा साग्रह अनुरोध है कि तुम संन्यास ग्रहण करके दीर्घायु लाभ करो तथा उसके साथ ही योगसिद्धि को प्राप्त करो।"

माँ की ये बातें बड़ी आकस्मिक तथा मर्मान्तिक थीं। गोपीचन्द्र की अवस्था अभी बहुत कम थी। दाम्पत्य जीवन के सुख-भोग का तो आरम्भ ही हुआ था। उन्हें क्या अभी से इस सुख का सर्वथा परित्याग कर देना होगा ?

गोपीचन्द्र जितना ही टाल जाने का उपक्रम करते, जननी उन्हें बार-बार संन्यास ग्रहण वाली बात पर लाने का प्रयास करतीं। अन्ततः उन्होंने कातर स्वर में कहा, "बेटा, नाथ योग का अवलम्बन करके काया साधन करो। इसी से तुम मृत्यु को दूर करने में सफल होंगे। देखो, प्रभु गोरखनाथ के वरदान के फलस्वरुप, इस दुर्लभ सिद्धि का मैंने लाभ किया है, तथा इच्छा-मृत्यु का अधिकार प्राप्त कर लिया है।"

गोपीचन्द्र का हृदय भय तथा विषाद से आच्छन्न हो गया। बचपन से ही वे महाशक्तिधर योगी गोरखनाथ की शक्ति तथा विभूतियों की बात सुनते आते थे। उनकी भविष्यवाणी के मिथ्या होने की कोई संभावना नहीं थी। दूसरी ओर, गोपीचन्द्र स्वयं इस तरुण अवस्था में भोग-सुख में आकण्ठ डूबे हुए थे। किस तरह वे इन सारी वस्तुओं का विसर्जन करेंगे ? अन्ततः पत्नियों के पास जाकर साश्रु नयनों से इस महान संकट की बात खोल कर कही।

सुनते ही अदुना तथा पदुना तो अवाक् रह गयीं। इस कच्ची उम्र में स्वामी को स्वजन तथा संसार का त्याग करके वन में जाना होगा ? किस तरह वे इस भीषण आघात को सहन कर पायेंगी ? दोनों ही सास पर क्रुद्ध हो उठीं। कब, कौन साधु कैसी बातें कह गया है, पता नहीं वह सत्य हैं या मिथ्या ? जाँच करने का भी तो कोई उपाय नहीं है। मैनामती इस बात को लेकर एक निरर्थक जोर देकर ले खड़ी हुई हैं। गोपीचन्द्र क्यों बिना कारण राज्य का त्याग करेंगे ? संसार के सभी सुख भोगों की वे क्यों तिलाजलि देंगें ? तरुणी पत्नियों का जीवन क्यों सर्वदा के लिए व्यर्थ हो जा जायगा ? इन सारी बातों पर किसने विचार किया है ?

पटरानी अदुना ने गोपीचन्द्र से कहा, "देखो, तुम्हारी माँ ने तो

पुत्र को संन्यास के लिए अनायास आदेश दे दिया। इधर हम लोगों की असहाय अवस्था पर क्या उन्होंने विचार भी किया है? उनको क्या? स्वामी जब जीवित थे तब वे रानी थी, उसके बाद भी राज-माता रह कर भी बहुत दिनों तक अबाध शासन कर चुकी हैं।"

"परन्तु, इस समय तो मेरे राज्यकाल में वे शासन नहीं कर रही हैं।"

"बलिहारी है तुम्हारी बुद्धि को। सीधी बात क्यों नहीं समझ रहे हो? तुम्हारे संन्यास ले लेने के बाद तो उनका शासनाधिकार और भी पक्का हो जायगा तथा सबसे अधिक लाभ होगा हाड़-सिद्ध जालन्धरी पाद का। उनके ही परामर्श से तो राजमाता उठती बैठती हैं। दोनों एक ही गुरू के शिष्य हैं, फिर भी इतनी घनिष्टता क्यों? राज्य के लोग कानाफूसी करते हैं, डोम वंश के इस हाड़-सिद्ध को मैनामती बहुत महत्व देती हैं। अब तुम्हीं बताओ, यही अन्त्यज हाड़सिद्ध तुम्हें दीक्षा देगा? तुम्हारी माँ का वह विधान क्या वांछनीय है?"

पहले ही गोपीचन्द क्षुब्ध तथा चंचल थे। महिषी की बात सुनकर वे और उत्तेजित हो उठे और अपना क्षोभ उन्होंने माँ के समक्ष जाकर प्रकट किया।

क्रोधपूर्वक वे बोल उठे, "जालंधरी पाद से मुझे तुम दीक्षा तथा साधन ग्रहण करने को कहती हो? जालन्धरी हाड़ी जाति का है। उससे दीक्षा तथा साधन ग्रहण न करने से मेरे प्राण नहीं बचेंगे, इस बात पर मैं विश्वास नहीं करता।"

"क्यों रे, ऐसी भ्रमित बातें तू क्यों कर रहा है?" मैनामती ने क्षुब्ध स्वर में कहा।

माँ की बात अनसुनी करते हुए वे एक ही साँस में कहते चले गये, "हाँ माँ, मैं जो कहता हूँ उसे ध्यान से सुनो। इस हाड़ी सिद्ध के साथ पता नहीं तुम्हारा कैसा रहस्यमय सम्पर्क है, उसे भी मैं पसन्द नहीं करता। राज्य का जन-साधारण इसके लिए तुम्हें सन्देह की दृष्टि से देखता है। ऐसी बातें मैं और सहन करने के लिए राजी नहीं हूँ।"

पुत्र के मुख से ऐसी बातें सुनते ही मयनामती के नेत्र रोष से जल उठें। वे समझ गयीं कि विवेक बुद्धि से वह शून्य हो चुका हैं। इसके अलावा तरूणी पत्तियों द्वारा उकयाये जाने से वह उत्तेजित हो गया है। इसीलिए ऐंसी लज्जाजनक दलील देने का उसे साहस ही रहा है।

उन क्षण वहाँ एक अलौकिक घटना हो गयी। सारे कक्ष में एक स्निग्ध शुभ्र स्वर्गीय आलोकधारा प्रवाहित हो गयी और उसी के मध्य महायोगी गोरखनाथ का सिद्ध देह प्रकट हो गया।

जटाजुट मंडित इस अपूर्व मूर्त्ति को देखते ही मैनामती ने पुत्र से कहा, "वत्स, प्रभु गोरखनाथ कृपा करके हम लोगों के सम्मुख आविर्भूत हुए हैं। उन्हें प्रमाण करो।"

माँ तथा पुत्र दोनों ने ही उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम निवेदित किया। गोपीचन्द्र की ओर कुछ देर तक अपलक देखने के वाद गोरखनाथ ने कहा, "वत्स, जिस कल्याणमयी जननीं ने एक दिन तुम्हें गर्भ में धारण किया था तथा तुम्हारा लालन करके बड़ा किया था, वे ही आज तुम्हारे पुनर्जन्म की व्यवस्था दे रही हैं। इसमें तुम्हें मिथ्या संदेह क्यों ? अठारह वर्ष पूर्व मैंने तुम्हारे संबन्ध में भविष्यवाणी कर दी थी। तुम्हारी आयु अब प्रायः समाप्तप्राय है। इसका एक मात्र प्रतिकार है—तुम्हारा संन्यासग्रहण और योगसिद्धि लाभ। इसके अलावा कोई उपाय नहीं।"

उदास, अपराधी जैसे गोपीचन्द्र देखते ही रह गये। मस्तिष्क जैसे शून्य हो गया हो। हाथ जोड़ कर उन्होंने मात्र इतना ही कहा "प्रभु, अब आप मुझे क्या करने की आज्ञा देते हैं ?"

"वत्स, तुम्हारी जननी तुम्हें पुनर्जन्म लाभ के पथ पर ले जाना चाहती हैं। परन्तु तुम अपनी विचार-शक्ति गँवा बैठे हो। माया विभ्रम के कारण तुम अन्धे हो रहे हो तथा मुक्ति मार्ग तुम्हें दिखायी नहीं पड़ रहा हैं। मैं तथा तुम्हारी जननी, दोनों ही तुम्हें बचाना चाहते हैं। जालंधरी पाद के शरणागत होकर दीक्षा लेने का निर्देश मैं देता हूँ। जालंधरी मेरा प्रिय शिष्य है एवं तुम्हारी जननी का श्रद्धेय गुरु

आता है। वह विख्यात सिद्ध पुरुष है। उसके संबन्ध में अनर्गल प्रलाप करना तुम्हारे लिए उचित नहीं हुआ। इसके अलावा तुमने जननी के लिए कटुक्तियों का प्रयोग करके और भी घृणित कार्य किया है।"

गोपीचन्द्र के दोनों नेत्र पश्चात्ताप से सजल हो उठे। नतशिर होकर उन्होंने गोरखनाथ से निवेदन किया, "प्रभु, अब मुझसे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। मैं आज ही दीक्षा तथा सन्यास लेने के बाद राजपुरी का त्याग कर दूंगा।"

"तुम्हारे अंदर शुभ बुद्धि का उदय हुआ है वत्स, यह बड़ी अच्छी बात है। बारह वर्षों के सन्यास-जीवन के बाद तुम दीर्घायु लाभ करोगे। उसके बाद तुम अपने स्थान पर वापस आ जाओगे। परन्तु वत्स, माता के संबन्ध में तुमने जो कटुक्तियों का प्रयोग किया है, उसके लिए विधि के विधान के अनुसार तुम्हें दण्ड पाना ही होगा। संन्यास जीवन में ही तुम्हें प्रतिकार करना होगा तथा लांछन सहना होगा। उसके बाद शोधन तथा सिद्धि के पश्चात वापस आने पर तुमसे फिर मेरा साक्षात्कार होगा। गोपीचन्द्र, तुम मेरी शिष्या, मयनमती के पुत्र हो। इसके अलावा मेरे विशिष्ट शिष्य सिद्ध योगी जालंधरी पाद का शिष्यत्व आज ग्रहण करने जा रहे हो। परन्तु मेरे समक्ष तुम्हारा इससे भी बड़ा परिचय है। तुम तो प्रभु, शिवजी के चिह्नित सेवक हो। ईश्वर निर्दिष्ट बहुत से कार्य इस संसार में तुम्हें करने हैं।"

जिस तरह अनायास पटिका के राजा प्रासाद में आविर्भाव हुआ था उसी तरह अलौकिक रूप से वे अंतर्ध्यान हो गये।

इसके बाद दीक्षा गुरु जालंधरी पाद तथा माता के चरणों में प्रणाम निवेदित करके गोपीचन्द्र ने कंधे पर छिन्न कंथा तथा भिक्षा की झोली धारण कर ली। पत्नी तथा परिजन रो-रो कर व्याकुल हो उठे। राजा का भिखारी वेश में दर्शन करके सारे राज्य में हाहाकार मच गया।

गोपीचन्द्र के जीवन में गोरखनाथ की बात अक्षरशः फलित हुई। भाग्य-चक्र के अनुसार, उन्हें इस त्याग-तितिक्षामय

जीवन में भी भयानक अपमान, लांछना तथा निर्यातन को सहन करना पड़ा।

बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर वे फिर अपने राज्य में वापस चले आये तथा हर्षपूर्वक उनका अपनी पत्नियों तथा जननी से मिलन हुआ। सारे राज्य में आनन्द की लहर बह चली।

गोपीचन्द्र विधान पूर्वक राज्यारोहण करेंगे। राजमाता मयना देवी के आदेश से राजधानी में विराट उत्सव समारोह का आयोजन किया गया हैं। इस उत्सव की भीड़ में से ही आकस्मात् पता नहीं कहाँ से योगिवर गोरखनाथ प्रकट हो गये।

महात्मा को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करने के बाद गोपीचन्द्र ने निवेदन किया, "प्रभु, हम लोगों का परम सौभाग्य है कि इस शुभ अवसर पर आपकी चरणधूलि यहाँ पड़ी है। मेरा साग्रह अनुरोध है कि आप स्थायी रूप से इस राज्य में अपना आसन स्थापित करें, जिससे आपकी सेवा सुयोग पाकर मैं अपना जीवन सार्थक कर सकूँ।"

आशीष देकर, स्नेह मधुर कण्ठ से महायोगी गोरखनाथ ने कहा, वत्स गोपीचण्द्र, राज्य छोड़ कर जिस दिन तुमने संन्यास ग्रहण किया था, उस दिन यहीं खड़े होकर मैंने तुम्हें आशीर्वाद दिया था। आज तुम्हारे राज्यारोहण चे अवसर पर भी यहाँ आने से मैं अपने को रोक नहीं पाया। वत्स, तुम मुझे यहाँ स्थायी रूप से रहने का आमंत्रण दे रहे हो, परन्तु वह संभव कैसे हो सकेगा ? मुझे बहुत से लोगों की अंतरात्मा की पुकार सुनना पड़ता है तथा नाना स्थानों की दौड़-भाग करनी होती है।"

"मेरी जननी धन्य है, आपकी पूर्ण कृपा उनके ऊपर हुई है। वह धारा वहीं तक आकर न रुक जाय तथा इस आश्रित के ऊपर भी उसके कुछ अंश का वर्षण हो।"—गोपीचन्द्र ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया।

"वत्स, तुम्हारे ऊपर दृष्टि न रहती तो बीच-बीच में यों ही आकर उपस्थित होता ? आशीर्वाद देता हूँ, जिस साधन-मार्ग का

तुमने अवलम्बन लिया है, अविचल निष्ठा के साथ उसका सर्वदा अनुसरण करते रहो। तुम्हारे साथ फिर साक्षात्कार होगा—सुदूर पंजाव में। उस समय अभीष्ट की प्राप्ति में मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।" इतनी बातें करने के बाद उसी दिन गोरखनाथ ने शिष्यगण के सहित उस स्थान का त्याग कर दिया।

गोपीचन्द्र सिंहासन पर आसीन हो चुके हैं तथा राज्य की परिचालना का भार अपने हाथों में ले चुके हैं। पत्नी तथा प्रियजनों के साथ आनन्दपूर्वक समय व्यतीत हो रहा है। परन्तु इस राजकर्म तथा राजपुरी के सुख भोग की आजकल उन्हें तृष्णा नहीं है। वे जीवन के श्रेष्ठ बारह वर्ष सर्वत्यागी सन्यासी के रूप में व्यतीत कर चुके हैं। गुरू की कृपा के फलस्वरूप योग साधन एवं सिद्धि का कुछ आस्वादन कर चुके हैं। प्रयास करने पर भी उस योगी जीवन की आनन्दमय स्मृतियों का विस्मरण करने में सक्षम नहीं हो पा रहे हैं।

अन्ततः थोड़ेही दिनों में उन्होंने दृढ़ विचार कर लिया और फिर संसार का त्याग करके नाथ योगियों के काम्य परम प्राप्ति के मार्ग पर बाहर निकल पड़े।

इन दिनों के साधन जीवन में उन्होंने प्रभु गोरखनाथ का आश्रय लाभ किया था। उनकी सहायता के फलस्वरूप एक शक्तिधर सिद्ध योगी के रूप में उनका रूपान्तरण हो गया। उत्तर काल में उनके जीवन में इन महात्मा की कृपा लीला किस प्रकार स्फुरित हो गयी, इसका बाद में वर्णन किया जायगा।

सारे उत्तर भारत में गोरखशिष्य सर्वत्यागी सन्यासी भर्तृहरि[१] की मर्यादा अपरिसीम थी। पूर्वाश्रम में वे परमार वंशीय राजपूत थे तथा चन्दावत राज्य के नरेश थे।

---

१. पंजाब तथा सिंध की लोकगाथा और जनश्रुति के अनुसार, भर्तृहरि, जालंधरीपाद के शिष्य थे। किन्तु हरिद्वार के माई पन्थी योगी एवं अन्यान्य कई नाथ पंथी दलों की धारणा है कि गोरखनाथ ही भर्तृहरि के गुरु थे। - गेजेटियर्स आफ द प्रौभिन्स आफ सिन्ध —भोल्यू० २, पृ० ५६।

भर्तृहरि के जीवन में योगीवर गोरखनाथ कीकृपा लीचा का नाना रूपों में प्रकटन हुआ था। इस सन्दर्भ में बहुत-सी विस्मयकर कथाएँ उत्तर भारत में सैकड़ों वर्षों से प्रचलित हैं। गोरखनाथ तथा भर्तृहरि के प्रथम साक्षात्कार की एक बड़ी मधुर कहानी प्रचलित है।

उन दिनों भर्तृहरि ने राज्य तथा संसार-धर्म का त्याग नहीं किया था। राजाओं की स्वाभाविक वृत्ति तथा कर्म का ही वे अनुसरण कर रहे थे।

एक दिन वे बहुत लाव-लश्कर लेकर मृगया के लिए गये हुए थे। घूमते-घूमते सभी एक वृहत् सरोवर के तट पर उपस्थित हुए सुन्दर हरिणों का एक समूह अपने मन की मौज में सरोवर तट पर घास चर रहा था। भर्तृहरि बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु परम आश्चर्य ! एक-एक करके वे वाण छोड़ते जा रहे हैं और प्रत्येक वाण सक्ष्य भ्रष्ट होता जा रहा है। अन्ततः वे बहुत हताश हो गये

इसी समय एक हरिणी उनके सन्मुख आ गयी और उसने सविनय निवेदन किया, "महाराज, इस वन के हरिण तो किसी का अनिष्ट नहीं करते, फिर आप क्यों इनकी हत्या करने का प्रयास कर रहे हैं ? और यदि आप हत्या का ही आनन्द लेना चाहते हैं, तो आप मेरे ऊपर ही अस्त्र चलाइये। परन्तु एक शर्त है। मेरा बध करने के बाद ही आपको यह मृगया समाप्त करनी होगी। इस यूथ में मैं ही एकमात्र हरिणी हूँ और मैं अपनी इच्छा से आत्मदान करने आयी हूँ, जिससे इस दल के अन्य मृगों की प्राणरक्षा हो सके। शराघात से मेरी हत्या करके आप अपनी मृगया सफल करें।"

"यह कैसे होगा ? क्षत्रिय होकर जानते हुए स्त्री के अंग पर मैं, शराघात कर ही नहीं सकता।" भर्तृ ने दृढ़ स्वर में कहा।

हरिणी क्षण भर में बन में दौड़ गयी और एक तरुण हरिण को साथ लेकर वापस आयी। उसने फिर निवेदन किया, "महाराज, यह मेरा स्वामी है। आपके शराघात के लिए यह प्रस्तुत होकर आया है। शर्त पहले वाली ही है। इसका वध करने के बाद आप किसी और पर अस्त्र नहीं चलावेंगे।"

भर्तृहरि के शराघात से हरिण जमीन पर लोट पड़ा। मृत्यु यन्त्रणा में भी कहने लगा,—"महाराज, मैं मर्त्यलोक का त्याग कर चला। इस समय दया करके आप मेरा एक अनुरोध स्वीकार करेंगे। मेरे दोनों खुरों का दान नगर के किसी तस्कर को करेंगे जिससे छू जाने पर उसकी पलायन तत्परता बढ़ जाय और दोनों पैर तेज दौड़ लगाने में सक्षम हो जाँय। मेरा शृंग किसी योगी साधक को अर्पण करेंगे जिससे ये इसका सिघारुा (नाद) में इन दोनों का व्यवहार कर सकें। तथा मेरा चर्म किसी तपस्वी को देंगे, जिससे वे इसके ऊपर बैठ कर ध्यान-जप कर सकें। अगर मेरे चक्षुओं का किसी रूपसी को दान हो जाय तो वह मृगनयनी हो जायगी। मेरा मांस आप अपने व्यवहार के लिए रखेंगे। अच्छे रसोइये से पकवाकर आप तृप्तिपूर्वक उसका भोजन करेंगे।"

भर्तृहरि अबतक विस्मय से अभिभूत हो चुके हैं। यह कैसा अद्भुत काण्ड है। मृग तथा मृगी का यह कैसा अलौकिक आत्म-दान है? शरीरान्त के क्षण में भी कौन इस तरह दूसरों के कल्याण के लिए उत्सर्ग हो सकता है? निश्चित रूप से इस हरिण तथा हरिणी के आचरण की पृष्ठभूमि में किसी दिव्य पुरुष की प्रेरणा है।

राजा भर्तृ की समग्र चेतना में उस दिन एक प्रचण्ड आलोड़न हुआ। मृत मृग का शरीर वन में ही पड़ा रहा। आकुल अन्तर से वे लाव-लश्कर के साथ प्रासाद में वापस आ गये।

इस घटना के बाद ही राजा भर्तृहरि के जीवन में परम लग्न उपस्थित हुआ। जन्म-जन्मान्तर के शुभ कर्मों के फलस्वरूप उन्हें महायोगी गोरखनाथ का दर्शन मिला तथा उनकी चरण-वन्दना के पश्चात उन्होंने उनसे कृपा प्रसाद की याचना की।

आशीर्वाद दान के पश्चात, गोरखनाथ ने बातचीत के ही प्रसंग में उनसे कहा, "वत्स, आज मृगया में जाकर तुम जिसकी हत्या कर आये हो, वह सामान्य मृग नहीं था। वह मेरा ही आश्रित था। पूर्व जन्म में, उसने मेरा शिष्यत्व ग्रहण किया था।—शाप भ्रष्ट होकर, स्वजन वर्ग

के साथ वह हरिण-जीवन व्यतीत कर रहा था।"

भर्तृ ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "प्रभु, यदि ऐसा ही है तो अपने आश्रित की क्यों इतनी निष्ठुरतापूर्वक उपेक्षा कर रहे हैं ? योग-शक्ति के बल से उसे आप प्राणदान दे दें जिससे मैं भी पश्चात्ताप रूपी वृश्चिक दंश से मुक्ति पा जाऊँ।"

कहा जाता है, राजा भर्तृ के अश्रु जल एवं कातर विनय से दयार्द्र होकर शक्तिधर महायोगी उसी समय मृगया वन में जाकर उपस्थित हुए। उसके बाद मृत हरिण के ऊपर मंत्रपूत जल छिड़क कर उसे पुनर्जीवित कर डाला।

हत्वाक भर्तृ की ओर देखते हुए गोरखनाथ ने शांत स्वर में कहा, "इस हरिण का प्रारब्ध योग शेष हो चुका है। इसलिए बचा देने के बाद भी इसे अब रखना संभव नहीं है।"

इतनी बातें करने के साथ ही हरिण की प्राणवायु निकल पड़ी और उसका शरीर निर्जीव होकर भूमि पर लोट पड़ा।

गोरखनाथ ने कहा, "महाराज, अगर अतीन्द्रिय लोक से आपका सम्पर्क होता, दिव्य चक्षु होते तो आप देख पाते कि इस हरिण की आत्मा परमानन्दपूर्वक शिवलोक गमन कर चुकी है।"

इसके बाद गोरखनाथ शिष्यों के साथ उस स्थान का त्याग कर चलने को उद्यत हुए। राजा के बार-बार रुकने का अनुरोध करने पर, उन्होंने आश्वासन देते हुए कहा, "महाराज, हम लोगों का फिर साक्षात्कार होगा और आपको जब मेरी अत्यन्त आवश्यकता होगी, तब मैं आकर स्वयं उपस्थित हो जाऊँगा।"

कई वर्ष बीत चुके हैं। राजा भर्तृहरि मृगया के उद्देश्य से वन में प्रवेश कर रहे थे। पथ चलते-चलते उनकी दृष्टि एक चिता शय्या पर पड़ी। निम्न श्रेणी के लोगों की भीड़ चिता के सम्मुख खड़ी थी। घोड़े से उतर कर वह जानने की चेष्टा करने लगे कि मामला क्या है। पता चला कि पारधि जाति का एक आदमी वन में शिकार करने के लिए आया था तथा सर्पदंश से उसकी मृत्यु हो गयी है।

उसकी स्त्री अपने पति के साथ ही सती होगी इसलिए ही यह चिता सजाई जा रही है। दाह करने के साथ ही साथ, सभी के सामने, पति-पत्नी का शरीर भस्मीभूत हो गया।

भर्तृहरि के हृदय में इस करुण दृश्य की गम्भीर छाप पड़ी। प्रासाद में वापस आने पर उन्होंने रानी पिंगला से इस घटना का विस्मित वर्णन किया और कहा, "प्रिये, देखती हो, नीच जाति के गरीब घर की नारी होते हुए भी उसे अपने स्वामी के प्रति कितना प्रेम था। उसने निर्बिकार भाव से अपने स्वामी की चिता पर प्राणों की आहूति दी।"

पिंगला कह उठों "तुम भी इस बात को जान लो। तुम्हारा शरीरान्त होने पर मैं भी इसी तरह आत्म-विसर्जन कर दूँगी तथा स्वामी के प्रति अपनी अगाध निष्ठा तथा प्रेम को प्रमाणित करूँगी। यह भी समझ लो, तुम्हारी मृत देह को देखना तो दूर की बात है-मात्र मृत्यु संवाद सुनते हीं मैं इस शरीर को चिता की अग्नि में भस्म कर डालूँगी।"

राजा ने हँस कर कहा, "इसके लिए माथापच्ची की कोई आवश्य-कता नहीं है। मैं जल्दी मर भी नहीं रहा हूँ, इसलिए तुम्हें यह सुयोग जल्दी मिलने का नहीं।"

कुछ दिन बाद राजा भर्तृहर फिर मृगया हेतु गये हुए हैं। अना-यास रानी पिंगला की उस दिन की वार्ता उन्हें ध्यान आयी। सोचा, प्रियतमा के साथ थोड़ा मजाक ही क्यों न किया जाय। खबर भेज देता हूँ कि शिकार के समय सिंह-व्याघ्र से महाराज निहत हो गये हैं। देखूं, इससे पिंगला की क्या प्रतिक्रिया होती है। उसके बाद प्रासाद में वापस जाकर इसके लिए खूब हँसी-मजाक करूँगा।'

मिथ्या संवाद का परिणाम बहुत ही भयानक हुआ। राजा की मृत्यु का संवाद पाते ही, शोकाकुला रानी पिंगला ने चिताशय्या प्रस्तुत करायी तथा पति का नाम स्मरण करते हुए उन्होंने अग्नि में आत्म-दाह कर लिया।

वापस आकर ही भर्तृहरि को यह मर्मभेदी समाचार सुनने को मिला। दौड़ते हुए जब वे चिता के समीप पहुँचे तो सब कुछ शेष हो चुका था। तब तक पिंगला का शरीर जल कर अंगारों में परिणत हो गया था।

पति-पत्नि दोनों ही एक दूसरे को हृदय से प्रेम करते थे। पिंगला के विरह में भर्तृहरि बहुत ही अधीर हो उठे। अपनी भूल का स्मरण होते ही शोक और भी गंभीर हो उठा। इस तरह का बालकोचित कांड वे क्यों करने गये जिसके कारण पिंगला ने इस तरह मृत्यु को आमंत्रण दे डाला? चिता के पार्श्व में ही बैठ कर राजा बिलकुल फूट पड़े। कुछ देर बाद शोक के किंचित प्रशमित होने पर उनके अंतर में प्रवल विरक्ति जग वड़ी।

पत्नी की चिता का स्पर्श करके भर्तृहरि ने अस्फुट स्वर में एक शपथ ग्रहण किया। कहा, "प्रिये पिंगला, तुम्हारी यह मृत्यु मेरी बुद्धिहीनता के कारण ही हुई है। इसलिए आज से राज-सुख तथा राज-पद का त्याग करके मैं संन्यास ग्रहण करूँगा।"

थोड़ी देर वाद ही तुरत बुझी हुई चिता के सम्मुख महायोगी गोरखनाथ आकर उपस्थित हुए। स्नेहपूर्ण स्वर उन्होंने में कहा, 'महाराज भर्तृहरि, आप विज्ञ तथा विचारवान व्यक्ति हैं। शोक के भार से इस तरह टूट पड़ने से किस तरह चलेगा? आत्मसंयम कीजिए।"

थोड़ी चेतना आने पर भर्तृहरि उठ कर खड़े हुए तथा श्रद्धापूर्वक उन्होंने महायोगी के चरणों की बंदना की।

गोरखनाथ के हाथों में एक छोटा मृत्तिका भांड था। उसे ऊपर उठाते हुए उन्होंने कहा, "महाराज, इसमें नर्मदा का पवित्र जल एकत्र किया हुआ है। आइये, इसे ग्रहण करके शांत होइये। इतना कहते-कहते हाथ से गिर कर भांड टुकड़ा-टुकड़ा हो गया।

मिट्टी का एक घड़ा टूट गया है, यह मानों किसी प्रिय वियोग जैसी ही दुःसह घटना है। शोकार्त होकर गोरखनाथ ने क्रन्दन आरंभ कर दिया। उन्हें शांत करना किसके वश की बात थी?

भर्तृहरि विस्मय से अवाक् थे। जो कि महाशक्तिभर योगी के रूप में सारे भारवर्ष में विख्यात हैं, उन्हें यह माया का बंधन कैसा ? मिटट्री के एक तुच्छ जलपात्र के कारण उनकी ऐसी दुर्दशा ?

उन्होंने कहा, "योगिवर, आप शांत हों, अभी ऐसे दस-बीस पात्र मँगवा दिये जाते हैं। परन्तु मेरी सविनय जिज्ञासा है—इस सामान्य भंगुर बस्तु के लिए इतना मोह क्यों ?"

"रानी पिंगला के लिए ही आप इतने शोकग्रस्त क्यों हो गये हैं, महाराज ?"

"वह तो मेरी पत्नी है, तथा इस राज्य की रानी है।"

"आ:की पत्नी अथवा रानी ही हों, उसका भी तो मेरे मृत्ति-भांड की तरह कोई आधार है। वह जिस तरह टूट जाता है वैसे ही नवीन रूप से गढ़ा भी तो जा सकता है। आपने तो मुझे दस-बीस मिटट्री के घड़ों का जोगाड़ करने का आश्वासन दिया था। मैं भी उसी तरह आपको पंचीस रानियाँ देता हूँ। और हाँ, उनमें प्रत्येक ही आपकी रानी पिंगला हैं।"

किंचित मंत्रपूत जल, गोरखनाथ ने चिता के ऊपर छिड़क दिया। इसके साथ ही साथ योग शक्ति के बल से एक इंन्द्रजाल जैसा दृश्य उपस्थित हो गया। पच्चीस परम सुन्दरी नारिवां जो कि हूबहू रानी पिंगला जैसी ही थीं, भर्तृहरि के सम्मुख आकर खड़ी हो गयी।[१] विस्मित तथा विह्वल राजा एक-एक की ओर दृष्टि निबद्ध कर रहे हैं और सोच रहे हैं कि यही उनकी प्रियतमा पत्नी पिंगला है। परन्तु एक दूसरे से कोई मिलती नहीं है। इनमें कौन सी असली है तथा कौन सी नकली, इसका समाधान कर सकना बुद्धि से परे है।

महायोगी की विभूतिशक्ति से सृष्ट इस माया-विभ्रम में राजा भर्तृहरि बिलकुल दिशाहारा-जैसे हो पड़े

१. डब्लू वाटसन : दि स्टोरी आफ् रानी पिंगला-इंडियन एंटिक्विटिज १८७३, पृ० २१५, एफ्।

उन्होंने कातर कंठ से गोरखनाथ के चरणों में निवेदन किया, "प्रभु, मैं अंधा विषय-कीट हूँ। आप की दिव्य दृष्टि मुझे कहाँ मिलेगी ? अब इस तरह मुझे लज्जित न करें। आज मुझे पूरी तरह ज्ञान हो गया है, कि आपके योग-सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं है। अब कृपया असली पिंगला की पहचान मुझ करा दें, यही मेरी प्रार्थना है।"

गोरखनाथ ने मंत्रपूत जल एक बार और चारों ओर छिड़क दिया। उसी क्षण, एक को छोड़ कर सारी नारी मूर्त्तियाँ न जाने कहाँ अदृश्य हो गयीं।

योगिवर ने हँसते हुए कहा, "महाराज, गौर से देखिये, यही आपकी वास्तविक रानी है।"

उपस्थित जनता इस कांड को देख कर भय तथा विस्मय से अभिभूत हो चुकी है। पुनर्जीवन प्राप्त पिंगला अब धीर पद से आगे बढ़ीं और उन्होंने गोरखनाथ तथा भर्तृहर को प्रणाम किया तथा हाथ जोड़ कर सामने खड़ी रहीं।

प्रसन्न चित्त से योगिवर ने कहा, "भर्तृहरि, अब आप अपनी रानी को ग्रहण करें और राजप्रासाद में वापस चलें।"

गोरखनाथ की इस आश्चर्यजनक विभूति लीला ने राजा भर्तृहरि के जीवन में प्रचंड विचार मंथन ला दिया तथा उनके दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया। इसके साथ ही साथ पूर्व जन्म के शुद्ध संस्कार भी क्षण भर में ही जाग उठे। उन्हें परम बोध की उपलब्धि हो चुकी है कि वैभव, राजपाट तथा प्रेममयी पत्नी पिंगला, सारे माया के खेल के अलावा और कुछ भी नहीं हैं। योगी गोरखनाथ की कृपा से आज उन्हें ज्ञात हो चुका है कि जीवन और मृत्यु एक ही परम सत्ता के दो रूप हैं। इसके अलावा, यह जगत-प्रपंच सर्वथा मिथ्या है, इसका भी उन्हें ज्ञान हो चुका है। रानी पिंगला का लावण्यमय रूप तथा योगिवर के भंगुर मृति-भांड में यथार्थतः कोई पार्थक्य नहीं है।

भर्तृहरि ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "प्रभु, आपकी कृपा के फलस्वरूप, यह नेत्रहीन सत्य का आलोक देख पाने में समर्थ हो सका है। इस आलोक के मार्ग पर आज से उसकी यात्रा हो। आप कृपा करके मुझे दीक्षा दान करें तथा नाथ योग की श्रेष्ठ सिद्धियों के पथ पर मुझे ले चलें।"

"परन्तु राजसिंहासन का सुख-भोग, पत्नी का प्रेम, इन सभी वस्तुओं का त्याग करना क्या आपके लिए संभव हो सकेगा?"—महायोगी ने प्रश्न किया।

"हाँ प्रभु, मुझे जाना ही होगा। संसार का मोह बिलकुल समाप्त हो चुका है। इसके अलावा, प्राणप्रिया पिंगला की चिता के समक्ष मैंने शपथ ली है कि मैं संसार का त्याग करूँगा।[1] आप मुझे आश्रय दें तथा मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने में मेरी सहायता करें।"

'ठीक है महाराज, मैं आपको दीक्षा दूँगा, परन्तु एक शर्त पर। आपने इतने दिनों तक चरम भोगऐश्वर्य में जीवन व्यतीत किया है, अब आपको बारह वर्षों तक कठोर ब्रह्मचर्य की साधना करनी होगी, तथा भिक्षान्न से उदरपूर्ति करनी होगी।"

"ठीक है प्रभु। मैं आनन्दपूर्वक ऐसा ही करूँगा।"

"रुकिये महाराज। और भी बातें हैं। प्रत्येक एकादशी तिथि से अगले दिन आप भिक्षा माँगने के लिए राजप्रासाद में आवेंगे। वहाँ प्रियतमा रानी पिंगला के सम्मुख यही कहते हुए खड़े होंगे—माँ पिंगला, मुझे भिक्षा दो। पत्नी का मोह तथा प्रलोभन बिलकुल समाप्त हो गया है या नहीं अथवा फिर से आरम्भ तो नहीं हो रहा है, उसका संधान मैं इसी कार्य के द्वारा करूँगा। इस तरह बारह वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद मैं आपको निगूढ़ योग-साधन प्रदान करूँगा, तथा आप मोक्ष के द्वार पर जाने के अधिकारी होंगे।"

---

१. जर्नल आफ एशियाटिक ओरियन्टल सोसायटी : भोल्यूम २५, पृ० २९८-२३३। एल० डी० ग्रे: द भर्तृहरि निर्वेद आफ हरिहर।

महायोगी के चरणों में प्रणत होकर राजा भर्तृहरि ने हाथ जोड़ कर कहा, "प्रभु, मैं अपने संकल्प में अविचल हूँ। आज से ही आपका निर्देश मुझे शिरोधार्य होगा।"

अश्रु जल को दबाकर रानी पिंगला राजपुरी वापस चली गयी तथा परिजन और प्रजावृन्द के ऊपर अपार शोककी गंभीर छाया पड़ गई। चीर तथा वसन पहन कर सर्वत्यागी संन्यासी, भर्तृहरि ने नगर के पार्श्व में स्थित एक पर्णकुटीर में आश्रय लिया। व्रत उद्यापन के अन्त में उन्होंने गोरखनाथ के कृपा-प्रसाद का लाभ किया।

उत्तर भारत के योगी-गायक और सारंगिये आज भी करुण स्वर में राजवैरागी भर्तृहरि की इस विलक्षण भिक्षा की कहानी गाते हुए घूमते हैं। एकतारा की मूर्छना के साथ झंकृत हो उठता है उनके परम प्रिय संगीत का पद—'भिक्षा दे मैया पिंगले'—

गोरखनाथ के कृपास्वरूप भर्तृहरि ने कायासिद्धि का लाभ किया, तथा नाथत्व में प्रतिष्ठित हुए। उत्तर प्रदेश, पूर्व पंजाब, सिंघ एवं गुजरात में आज भी बहुत से भर्तृहरि-योगियों का संधान मिल जाता है।

भर्तृहरि के विशिष्ट शिष्य, महात्मा रतननाथ, असामान्य योग विभूति के अधिकारी थे। पेशावर क्षेत्र में उनके बहुत से योगी शिष्य विद्यमान थे। कोहाट, जलालाबाद एवं काबुल के योगी मठ उन्हीं के तत्वावधान में परिचालित होते।

रतननाथ सुप्रसिद्ध नाथ गुरू होने के बावजूद कानों में कोई कुंडल नहीं पहनते थे। इसके लिए योगी टीला के कई प्राचीन निष्ठावान योगियों ने एक बार उनका खूब तिरस्कार करते हुए कहा, "क्यों, तुम तो सैकड़ों योग शिक्षार्थी तथा भक्तों के आश्रयदाता, तथा नाथ-धर्म के एक दिक्पाल हो—और तुम्हीं कानों में कुण्डल धारण नहीं कर रहे हो।"

"उसमें दोष ही क्या है।"—उपेक्षा करते हुये सिद्ध योगी रतन नाथ ने उत्तर दिया।

"नये साधकों के लिए तुम्हारा यह आचरण क्या बुरा दृष्टान्त नहीं प्रस्तुत करता ?"

इस बात का कोई उत्तर न देकर उन्होंने मौन का ही अवलम्बन किया, परन्तु समालोचकगण भी छोड़नेवाले नहीं थे। बार-बार तीक्ष्ण वाक्‌वाणों से उन्हें बींधते रहे।

अन्ततः रतन नाथ बहुत उत्तेजित हो उठे, तथा सबके सम्मुख उन्होंने एक अद्‌भुत योग सिद्धाई का प्रदर्शन किया। दोनों हाथों से उन्होंने अकस्मात् अपना वक्षपिंजर विदीर्ण कर डाला, और उसके बाद दृढ़ स्वर में कहा, "अब अच्छी तरह आँख खोल कर देख लो, तुम्हारा काम्य कुण्डल यहाँ है या नहीं।"

सभी ने विस्मित होकर देखा, सचमुच उनके रक्तात्क वक्ष के अभ्यन्तर से गैंडे की सींग से निर्मित धूसर रंग का एक जोड़ा कर्ण-कुण्डल विराजमान है।१

बाद में अन्तरग भक्तगण आन्तरिक दुःख प्रकाश करते थे कि रतन नाथ के बाद इस क्षेत्र में ऐसा कोई नहीं हुआ जो कि रतननाथ जैसा विपुल योगैश्वर्य का स्वामी हो। जनश्रति है कि इस बात को सुन कर गोरखनाथ के पौत्र-शिष्य, इन शक्तिधर योगी ने अपने शरीर से ही एक सौम्यदर्शन, समाधिवान बालक साधक की सृष्टि कर डाली थी। काया से सृष्ट होने के कारण उनका नाम कायानाथ पड़ा। उत्तर काल के पेशावर क्षेत्र के मात्र हिन्दू और बौद्धगण ही नहीं, वरन् बहुत से मुसलमान भक्त भी उनके धर्मोपदेश का लाभ करके उपकृत हुए थे। योगी कायानाथ का उनके मुसलमाग भक्तों ने आदर पूर्वक नाम-करण किया था—कायमुद्दीन।

काबुल तथा जलालाबाद में योगी रतननाथ को स्मृति से जड़ित जीर्ण मन्दिर अभी भी विद्यमान है। शक्तिधर योगी के तिरोधान के कई सौ वर्ष बाद भी स्थानीय मुसलमान लोग रतननाथी योगियों की औकिक विभूतियों को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते थे।

योगीवर गोरखनाथ के विशिष्ट कृपाप्राप्त शिष्य थे, पंजाब के राजा शालिवाहन के पुत्र पूरन भगत। बाल्यावस्था से ही वे सत्, उदार

१. ब्रिगस् : गोरखनाथ एंड कानफटा योगीज—पृ० ६५-६६।

तथा ईश्वर प्रेमिक थे। चरित्र की पवित्रता के साथसाथ, उनमें दृढ़ता भी प्रचुर थी। यौवन में पदार्पण करने के बाद पूरन के जीवन में एक महान संकट उपस्थित हुआ। विमाता रानी लूनान तरुणी एवं परम सुन्दरी तथा निःसन्तान थी। रानी स्वस्थ तथा सुन्दर युवक, पूरन के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हो गयीं और उसे अपने वश में करने की प्राण-पण से चेष्टा करने लगी।

पूरन न घृणापूर्वक लूनान के सारे प्रलोभनों को ठुकरा दिया। इसके फलस्वरूप रानी क्रोध से बिलकुल पागल हो उठीं। अन्ततः प्रतिहिंसा की भावना से उन्होंन पूरन के विरुद्ध, राजा के सम्मुख एक मिथ्या अभियोग लगा दिया। उन्होंने कहा कि कामासक्त हो कर पूरन उनसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

राजा एक तो वृद्ध थे, इसके अलावा रूपसी कनिष्ठा रानी के प्रति मोह की भी कमी नहीं थी। इसके फलस्वरूप उनमें विचार-बुद्धि लेश मात्र भी अवशिष्ट नहीं थी। इसीलिए बिना किसी छान-बान के उन्होंने पुरन के लिए चरम दण्ड का आदेश दिया। हाथ-पैर काट कर पूरन को एक सूखे कूंए में डाल दिया गया।

लगातार बारह दिनों तक उन्हें इस मृतकल्प अवस्था में इस कूप में रहना पड़ा। उसके बाद दैवयोग से इस संकट काल में वहाँ गोरख-नाथ का आविर्भाव हुआ। कहा जाता है कि योगिवर की आश्चर्यजनक विभूति के फलस्वरूप पूरन के कटे हुए हाथ-पैर नये सिरे से जुड़ गये तथा कूप से उनका उद्धार हुआ।

परन्तु इसके बाद पूरन राजपुरी में वापस नहीं गए, वरन् गुरु गोरखनाथ के आश्रय में आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करते रहे। कई वर्षों की कृच्छ्र एवं कठोर तपस्या के फलस्वरूप उन्हें योग-सिद्धि का लाभ हुआ तथा सर्वसाधारण में वे पूरन भगत के नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक बार वे गुरु के आदेश से कुछ दिनों के लिए राजपुरी में वापस आये। राजपुत्र ने पुनर्जीवन लाभ किया है तथा गोरखनाथ की दीक्षा-शिक्षा के फलस्वरुप एक शक्तिधर योगी हो गये वे, यह जान कर लोगों में उनके दर्शन से उल्लास की सीमा नहीं रही।

इधर बिमाता लुनान अत्यन्त भीत एवं अनुतप्त हो गयीं। नवीन योगी पूरनके पास आकर वे बार-बार कातर स्वर में क्षमा के लिए भिक्षा माँगने लगीं।

इस समय सबके सम्मुख गोरख-शिष्य, सिद्ध-साधक पूरन का महिमामय रूप प्रस्फुटित हो गया। रानी लूनान के सारे दोषों को उन्होंने क्षमा कर दिया। केवल इतना ही नहीं, उनके वर के फलस्वरूप उत्तर काल में रानी को एक पुत्र-रत्न की भी प्राप्ति हुई। इस पुत्र का नाम हुआ रसालु। पूरन का बैमात्रेय भ्राता बाद में गोरखनाथ का एक विशिष्ट शिष्य एवं प्रसिद्ध योगी के रूप में विख्यात हो गया।

राझा तथा हीर के प्रेमोपाख्यान के साथ भी कृपालु गोरखनाथ की पवित्र स्मृति जड़ित है। पंजाब के जन-जीवन तथा लोकगाथाओं में इसका प्रचुर संकेत मिलता है।

राजपूत भक्त गूगा भी गोरखनाथ के शक्तिधर योगी शिष्यों में विशिष्ट स्थान रखते थे। गूगा का सबसे बड़ा बड़ा वैशिष्ट्य यह था कि वे समाज के निम्नस्तर के सारे मनुष्य के ऊपर अकृपण रूप से कृपा वर्षा कर गये हैं। उत्तर-पश्चिम भारत के अन्त्यज, अस्पृश्य एवं निम्न श्रेणी के मुसलमान साधकों के ऊपर इनका प्रभाव असामान्य था। ग्रामीण क्षेत्र के बहुत से क्षुद्र मंदिरों में गोरखशिष्य गूगा एवं उनके साधना के प्रतीक सर्प की प्रतिमूर्त्ति आज भी वेखी जा सकती है।

पंजाब तथा बंगाल की लोकगाथाओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि बंगाल के राजपुत्र गोपीचन्द्र अन्त में दुबारा सिंहासन का त्याग करके घूमते-घूमते सिन्ध तथा पंजाबस्थित नाथ योगियों के संधान में तपस्या स्थलों में आकर उपस्थित हुए थे और इन सभी स्थानों पर कठोर तपस्या करने के पश्चात् उन्होंने सिद्धि लाभ किया था। उनके साधन ऐश्वर्य की ख्याति सैकड़ों वर्षों के पश्चात भी जनमानस में प्रतिष्ठित थी।

सिंध के पीर आड़ क्षेत्र में जनसमाज में साधकप्रवर गोपीचन्द्र

'पीर पथाओ' के नाम से परिचित थे। उत्तर काल में हिन्दू तथा मुसलमान, उभय पक्ष ही, उनकी पवित्र स्मृति पर समभाव से श्रद्धा करते। कराँची से कुछ दूर, आज भी एक प्राचीन प्रासाद के भग्नाव-शेष दिखाई पड़ते हैं जिसे मुसलमानगण 'पीर पुत्त' के नाम से सम्बोधित करते हैं, तथा हिन्दूगण उसे 'गोपीचन्द्र राज' कहते हैं। यह भग्न विराट आश्रम बंगालके राजसन्यासी गोपीचन्द्र को ही केन्द्र करके निर्मित हुआ था, इसमें सन्देह नहीं।

परिब्राजन करते-करते एक बार गोरखनाथ सिंध देश में आये। उन दिनों उनके विशिष्ट भक्त व शिष्य गोपीचन्द्र वहीं रह कर साधन-भजन करते थे। गोपीचन्द्र ने युवावस्था में जालन्धरीपाद से दीक्षा ली थी, परन्तु योगसाधना के पथ-प्रदर्शक के रूप में उन्होंने गोरखनाथ का ही वरण किया था। बहुत दिनों के बाद इन शिवस्वरूप योगी के दर्शन पाकर उनके आनन्द की सीमा नहीं रही।

वहाँ कई दिनों तक निवास करने के बाद गोपीचन्द्र से गोरखनाथ ने कहा, "वत्स, कृच्छ्र एवं त्याग-वैराग्य का तुम्हारे इस नवीन जीवन में प्रचुर समावेश हो चुका है। इसके अलावा, परिव्राजन तथा साधन-भजन भी तुमने कम नहीं किया है। अब एक तपस्या केन्द्र चुन कर तुम वहीं स्थिर होकर बैठ जाओ। निकट ही पवित्र अड़ पर्वत भी है। प्राचीन काल में बहुत से योगी ऋषि यहाँ कठोर साधना करके सिद्ध हो चुके हैं। इसी पर्वत की गुफा में बैठकर तुम अपनी योग-साधना की समाप्ति करो। आशीर्वाद देता हूँ, तुम शीघ्र ही सिद्धकाम होगे।"

इस बार गोपीचन्द्र को गोरखनाथ ने योगसाधना की निगूढ़तम प्रक्रियाओं की शिक्षा दी और स्वयं उन्हें यत्नपूर्वक साथ लेकर पर्वत के पाद देश में गये। नीचे से ही निर्दिष्ट साधन गुहा की ओर इंगित करके वे गिरनार पहाड़ की ओर प्रस्थित हुए।

पहाड़ पर चढ़ते ही गोपीचन्द्र एक विपत्ति में पड़ गये। दयानाथ नाम के एक महाशक्तिधर तान्त्रिक दीर्घकाल से वहीं निवास करते थे।

वे विपुल शक्तियों के अधिकारी थे। उनके अनेक शिष्य थे, तथा स्थानीय साधु-सन्तों में भी उनकी प्रतिष्ठा कम नहीं थी।

वे तंत्रसिद्ध महापुरुष थे। नाना चमत्कारिक कहानियाँ सुन कर गोपीचन्द्र को इनके विषय में कौतूहल हुआ। यहाँ के वन जंगल तथा पहाड़ की गुफाओं में निवास कर बहुत से साधु तपस्या करते, जिनके धनी के लिए काष्ठ की सर्वदा ही दरकार रहती। दयानाथ जी अपनी शक्ति के बल से सबके लिए इसका जोगाड़ कर डालते। सभी का कहना था कि उनके पास एक सिद्धाई की पेटिका है और इसी में से तुरत काष्ठ और अग्नि की व्यवस्था हो जाती है। शीत, ग्रीष्म, किसी भी ऋतु में दिन-रात जब भी किसी को इन दोनों वस्तुओं की आवश्यकता होती, दयानाथ की पेटिका स्वतः चालित होकर इसका बन्दोबस्त कर डालती।

ऊँचे पहाड़ के ऊपर जल का संग्रह करना भी एक दुरूह समस्या थी। दयानाथ ने उसका भी समाधान कर डाला था। एक जलवाही बैल उन्होंने पाल रखा था। पीठ पर दो मशक झुला कर वह बार-बार नीचे उतरता और नदी में पैर रखने के साथ ही साथ अपने से ही पीठ पर रखे मशक जल से भरता है। उसके बाद पहाड़ों पर घूम घूम कर साधुओं में जल वितरण करता।

स्थानीय साधुओं के भोजन की व्यवस्था भी दयानाथ की सिद्धाई के बल से ही होती। उनके पास एक अलौकिक शक्ति संपन्न वृहदाकार भिक्षा पात्र था। प्रयोजन होते ही यह अपने आप सुस्वादु पूरी-कचौड़ी मालपूआ इत्यादि से भर जाता। आसपास के पहाड़ों पर स्थित साधुगण सभी इन्हीं वस्तुओं से अपनी क्षुधा निवृत करते।

परन्तु परोपकार तथा साधुसेवा के उत्साह से क्या होता है, कारण दयानाथ का स्वभाव बहुत ही उग्र है। साधुओं के ऊपर अपना व्यक्तिगत आधिपत्य के विस्तार के लिए वे सदैव चेष्टारत रहते। एक बार उनकी कुदृष्टि पड़ जाने पर किसी का निस्तार नहीं था। उनकी मंत्रपूत रस्सी के बन्धन के डर से तथा दीर्घ लाठी के प्रहार से आतंकित साधगण त्राहि-त्राहि करते रहते।

तांत्रिक दयानाथ जी के विषय से यह सब विस्मयकर कहानियाँ सुनकर गोपीचन्द्र ने सोचा, इस क्षेत्र में ये साधु नेता के स्थान पर हैं तथा प्रतिष्ठावान है। एक बार उनके दर्शन करके थोड़ी बातचीत तथा परिचय करने में क्या बुराई है ?

दयानाथ को प्रणाम करते ही विपरीत कांड घटित हो गया। क्रोध से वे अनायास फट पड़े। लाल-लाल नेत्रों से गर्जन करते हुए वे कहने लगे, "अरे पापी, अरे दुराचारी ! अभी मेरे सामने से दूर हट जाओ। तुम्हारा कुचक्र तथा षड्यंत्र मुझे पूरी तरह समझ में आ गया है। यहाँ से जल्दी खिसक जाओ।"

"महाराज, आपके इस तरह क्रोधित होने का कारण तो मैं बिलकुल ही नहीं समझ पा रहा हूँ। गुरु की आज्ञानुसार इस निर्जन पहाड़ पर कुछ दिनों के लिए तपस्या करने आया हूँ। परन्तु आप अकारण मेरे ऊपर इतने क्रोधित हो गये ? मैं तो अपके सामने बालक हूँ। कृपया यह बतायें कि मेरा अपराध क्या है ?"—गोपीचन्द्र ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया।

"अपराध ? तुम्हारे योगीगुरु, गोरखनाथ क्या आज इस पहाड़ की तलहटी में नहीं आये थे ? मेरी इस साधन गुहा की ओर क्या वे तीक्ष्ण, स्थिर दृष्टि से देखते नहीं रहे ? सही-सही कहो तो ?"

"जी हाँ आपकी बात बिलकुल यथार्थ है।"

'फिर सुनो हतभागा। तुम्हारे गुरु गोरखनाथ ने आज गुप्त रूप से मेरे विरुद्ध अपने योगबल का प्रयोग किया है। उसके यहाँ से चले जाने के बाद से मैं जो साधु सेवा के लिए अपनी सिद्धाई का अबतक प्रयोग करता आ रहा था, वह आज व्यर्थ हो रहा है। मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि तुम्हें यहाँ भेजने में भी एक गंभीर षड्यंत्र है। तुम्हारे यहाँ की सिद्ध गुहामें तपस्यारत होने पर, गोरखनाथ निश्चित रूप से दो-चार बार आवेगा। यह सुयोग पाकर, वह मेरी सारी प्रतिष्ठा तथा तंत्रसिद्धि को नष्ट कर डालेगा। क्या तुम बता सकते हो कि वह इस तरह मेरे पीछे क्यों लग गया है ? क्यों वह मेरा नाश करने के लिए इतना तत्पर हो रहा है ?"

गोपीचन्द्र ने सविनय, हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "महाराज, आपने मेरे प्रभु गोरखनाथ जी को बिलकुल गलत समझ लिया है। ये तो शिवकल्प महापुरुष हैं। सारे संसार तथा सब श्रेणी के साधकों के कल्याण की ही वे सर्वदा कामना करते हैं। वे आप जैसे महात्मा का अनिष्ट क्यों करेंगे ?

"फिर इस तरह का आचरण क्यों ? मेरी सिद्धाई के प्रति उसको इतनी ईर्ष्या क्यों ?"

"ईर्ष्या नहीं, उसे कल्याण कामना कहें।"

"इसका मतलब ?"– तंत्रसिद्ध साधक, दयानाथ जी के दोनों नेत्र क्रोध से रक्ताभ हो उठे।

"संभव है, आपकी यह विपुल सिद्धाई ही आपके साधन जीवन की चरम प्राप्ति के मार्ग में बाधा बन कर खड़ी है और प्रभु गोरखनाथ उसी बाधा को कृपावश होकर दूर कर देना चाहते हैं।"

"मूर्ख, होश से बातें करो, छोटी मुँह, बड़ी बात कर रहे हो। क्या तुम्हारा गुरु गोरखनाथ इतना शक्तिधर हो चुका है ? ठीक है फिर मेरी तांत्रिक सिद्धाई की शक्ति देखो। उसके बाद पुकारो अपने, गुरु को, देखूँ वह मेरे सामने कितना आगे बढ़ सकता है।"

दृढ़तापूर्वक गोपीचन्द्र के दोनों हाथ पकड़ कर तथा तीव्र रोष से काँपते-काँपते दयानाथ जी पहाड़ से समतल भूमि पर उतर आये तथा उन्होंने अपना मारात्मक अभिचार प्रारंभ किया।

क्षण भर में ही वहाँ एक भयंकर अलौकिक काण्ड घटित हो गया। सारे पहाड़ को घेर कर धू-धू करके अग्निशिखा प्रज्वलित हो उठी और ज्वलन्त गोले जैसा पहाड़ उर्ध्वाकाश में निक्षिप्त हो गया।[1]

भय तथा विस्मय से नवीन साधक गोपीचन्द्र की वाक्शक्ति ही अवरुद्ध हो उठी। निकट के इस भयानक, अविश्वास्य दृश्य को वे अपलक देखते ही रह गये।

---

१. ब्रिगस् : गोरखनाथ एण्ड कानफटा योगीज; पृ० १९२-३।

दयानाथजी के तीक्ष्ण स्वर से उनकी तंद्रा टूटी,—"अरे मूर्ख ! अपनी आँखों से तो तुमने मेरी सिद्धाई का प्रताप देखा। अब योगी गोरखनाथ से जाकर कहो कि वे तुम्हारी तपस्या के लिए किसी नयी जगह का निर्वाचन करे। मैं अब इस क्षेत्र को छोड़कर चला--धिनोधर पहाड़ पर जाकर अपने नवीन साधन-आसन की स्थापना करूँगा। उसके बाद वहाँ भी एक बार देख लूँगा तुम्हारे योगी गुरु को।'

दयानाथ जी की दृष्टि से ओझल होते ही गोपीचन्द्र गिरनार पर्वत की ओर दौड़ चले, जहाँ महायोगी गोरखनाथ उस समय निवास कर रहे थे। साक्षात्कार होते ही आतुर प्रार्थना के स्वर में उन्होंने कहा, "प्रभु, आप तो यहाँ निश्चित होकर बैठे हुए हैं, और वहाँ दयानाथ जी ने आपकी सारी व्यवस्था उलट-पुलट कर रख दी है। उनकी अद्भुत सिद्धाई का जो दृश्य अपनी आँखों से देख आया हूँ, उसे जीवन में कभी भूल नहीं पाऊँगा। सारे पहाड़ को उन्होंने आकाश मार्ग से निक्षेप कर दिया है, और वह आग से एकदम जल कर भस्म होता जा रहा है। इस तरह चुपचाप न बैठ कर आप इसके लिए कोई व्यवस्था कीजिए।"

गोरखनाथ की दृष्टि उसी क्षण उस पहाड़ की ओर निबद्ध हो गयी। उन्होंने देखा कि भूपृष्ठ से दूर आकाश सीमा तक एक सर्वध्वंशी अग्निवलय प्रज्वलित है। लहलहाती अग्नि शिखा तथा धूम राशि से सारी दिशाएँ एकाकार हो उठीं हैं।

दयानाथ का यह अमार्जनीय औद्धत्य ! अभी इसी क्षण इसका दमन न करने से कल्याण नहीं है। संकल्प करने के बाद ही गोरखनाथ ध्यानासन पर जाकर उपविष्ठ हुए। साथ ही साथ भ्रूमध्य से एक अलौकिक ज्योति की धारा निर्गत होकर तीव्र वेग से सामने की ओर निकल पड़ी। क्षण भर में दयानाथ द्वारा प्रज्वलित अग्निशिखा शान्त होती दिखाई पड़ी और उर्ध्व में स्थापित अड़ पर्वत पृथ्वी पर गिर कर दो खण्डों में हो गया।

अब महायोगी गोरखनाथ की दृष्टि धिनोधर पर्वतकी ओर गयी, जहाँ बैठ कर क्रुद्ध दयानाथ अपनी तांत्रिक अभिचार क्रिया सम्पन्न कर रहे थे। उनके मानस पटल पर एक अद्भुत दृश्य उदित हो गया। उन्होंने देखा कि एक मंत्रपूत सुपारी के ऊपर अपना मस्तक स्थापित करके दयानाथ—एक नूतन तपश्चर्या आरम्भ किए हुए हैं।

गोपीचन्द्र की ओर देखकर योगिवरने शांत स्वर में कहा, 'वत्स, विपत्ति अभी समाप्त नहीं हुई हैं। अगर दयानाथ द्वारा संकल्पित यह विशेष क्रिया पूर्णांग हो जाय तो सारा सिन्धु देश आज आग से जल कर राख हो जायगा। उसे तत्काल निवृत्त कर देना आवश्यक है।"

बातें समाप्त होते-होते, आकाश मार्ग से गोरखनाथ के चरणों के समीप एक विशालवपु संन्यासी धम् से गिर पड़े। गोरखनाथ के चरण पकड़ कर वे बार-बार क्षमा की भिक्षा माँगने लगे।

धीर, शांत स्वर में महायोगी ने कहा, 'तुमने व्यर्थ इतना काण्ड क्यों कर डाला, बता तो? सुदूर कच्छ तक मुझे अपने हाथ फैलाने पड़े और तुम्हें भी इस स्थान पर खींच कर लाना पड़ा। साधन-देह पूर्ण रूप से शुद्ध न करके, तुम्हारे गुरु ने सिद्धाई दे डाली थी। उसे धारण करने में तुम समर्थ नहीं हो। मात्र इतना ही नहीं, अपक्व आधार पर शक्ति आरोपित होने के फलस्वरुप तुम्हारे अन्दर तीव्र अहंकार उत्पन्न हो गया था। आज उसके मूल का उच्छेदन हो गया है, और मैंने तुम्हारी सारी विभूतियों का आकर्षण कर डाला है। अच्छा ही हुआ है, दयानाथ। तुम्हारे साधन मार्ग का एक बहुत बड़ा कंटक दूर हो गया है। अब शुद्धतर मन से नूतन तपस्या का श्रीगणेश करो।"

इसके बाद दयानाथ एकदम गोरखनाथ के शरणापन्न हो गये, और उन्होंने उत्साहपूर्वक नाथ योग की साधन प्रणाली को ग्रहण किया। कर्णवेध के साथ नाद-सिंगा-सेली धारण करा कर गोरखनाथ ने उन्हें उच्चतर योग तत्वों की शिक्षा दी, और उन्हें तपस्या के लिए फिर धिनोधर पर्वत की गुफा में वापस भेज दिया।

साधक गोपीचन्द्र का मार्ग अब निष्कंटक हो गया। शांतिमय परिवेश में अड़ पर्वत की एकान्त गुफा में उन्होंने अन्तिम योग साधना का समारम्भ किया तथा कालक्रम से शक्तिधर गुरु गोरखनाथ के आशीर्वाद से आप्तकाम हुए।

शिव स्वरूप गोरखनाथ के आचार्य जीवन की महत्तर भूमिका का इस समय से श्रीगणेश हुआ। स्थूल एवं सिद्ध देह से सारे उत्तर तथा दक्षिण भारत में विचरण करते रहे तथा उच्च कोटि के साधकों को अपनी कृपा से धन्य करते रहे।

एक बार मुमुक्षु जाट रांझा प्रभु गोरखनाथ के शरणापन्न हुए तथा योग साधना एवं संन्यास ग्रहणके लिए उनसे प्रार्थना की। इस समय उसको सतर्क करने के लिए योगिवर ने जो भी बातें कहीं,[1] वे साधनेच्छु व्यक्ति मात्र के लिए चिरस्मरणीय है। उन्होंने कहा, "वत्स, जान लो, हमारे नाथयोग साधना की योग्यता लाभ करना अत्यन्त ही कठिन है। मात्र अर्धनग्न होकर, माथे पर जटाओं का भार लेकर भिक्षा के लिए घूमते रहने से ही क्या योग होता है? इसके लिए पहले हृदय में विश्वास की ज्वलन्त अग्नि प्रज्वलित करनी होती है—और यही अग्नि साधक को सर्वदा उसके कृच्छ् साधन के पथ पर अग्रसर कराती रहेगी। यही पथ शिव सायुज्य तथा परम प्राप्ति का मार्ग है। शरीर तथा मन की चरम निर्यातना तथा लांछना हँसकर सहन करना होगा, तथा मृत्यु से प्रेम भाव रखना होगा—तभी तो वास्तविक योग की प्राप्ति होगी। वास्तव में यह योग होता है—जीवित रहते हुए भी कृतकल्प हो जाना। साधक के मन की सूक्ष्मतम इच्छाओं का विलय होगा और मन का वियोग होगा, तभी तो महामन के साथ परम शिव के साथ योग स्थापित होगा। वत्स, इस अद्भुत स्वल्पजीवी शरीर को एकतारा के जैसे बजाना होगा, और उसे झंकृत करना होगा—नेति-नेति का एक अनाद्यन्त सुर। साधक के समग्र जीवन तथा

---

१. इणिडयन एन्टिक्विटीज, १९२१ : हीर—रांझा—पृ० ३२।

समग्र सत्ता को एक विन्दु के भीतर समेट लेना होगा। इस तरह समझ सकते हो – इस योग-साधन को लेकर लड़कपन करना सम्भव नहीं है। और एक बात जान लो – हमारे इस तुच्छ रक्तमांसमय शरीरके भीतर भगवान का महाधाम निहित है। इसी कारण इस शरीर की साधना के माध्यम से ही उनके ज्योतिर्मय महाप्रकाश को संभावित करना होगा।"

गोरखनाथ मूलतः शवमार्गी महायोगी थे। नाथ योगियों की साधना का प्रधान लक्ष्य होता हैं शिवत्व-लाभ करना, महेश्वर के स्वरूप तक उन्नति करना। देवाधिदेव महेश्वर का स्वरूप होता है, अविनाशीत्व-अमरत्व। इस कारण गोरखनाथ की यही कामना थी कि नाथ-साधकों का लक्ष्य हो इष्ट के स्वरूप का अर्जन—जीव-मुक्ति तथा परामुक्ति के माध्यम से महेश्वर की चिरंतन सत्ता में स्थिति लाभ करके परम शिव में प्रतिष्ठित होना।[1]

लक्ष्य तो स्थिर हुआ, परन्तु इस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग क्या है? कौन से सोपान के द्वारा नाथ-योगी अपने चरम लक्ष्य, परम शिवत्व तक पहुँच सकेगा? चित्तवृत्ति निरोध द्वारा राज-योग का साधन साधारण मनुष्य के लिए सहज साध्य नहीं है। मंत्रयोग की दुरूहता भी सर्वविदित है। इसीलिए नाथ धर्म के नेताओं ने विन्दुजय तथा वायुजय पद्धति पर अधिक जोर दिया, तथा हठ योग को ही उन्होंने साधारणतः अति प्रयोजनाय प्राथमिक सोपान के रूप में स्थापित किया।

किन्तु गोरखनाथ का योग पन्थ भारतीय परंपरागत योग पन्थ का अनुगत है, इसमें सन्देह नहीं। विन्दु धारण वायु निरोध और मन का विलय--यही उनकी योग साधना की मूल भित्ति थी। 'हठयोग प्रदीपिका' में उद्धृत गोरख वाक्य में लिखा है—

मन थिर तो पवन थिर
पवन थिर तो विन्दु थिर।
विन्दु थिर तो कन्ध थिर
बोले गोरखदेव सकल थिर।

---

१. आब्सक्योर रिलिजस कल्टस् : डा० दास गुप्त—पृ० २१।

इस स्थिर अवस्था में भांड तथा ब्रह्मांड में किसी प्रकार का पार्थक्य बोध नहीं रहता तथा योगी साधक को सहज समाधि को दुर्लभ अध्यात्म संपदा को प्राप्ति होती है। गोरखनाथ का यह योगादर्श प्रचुर मात्रा में हठयोग के ऊपर निर्भरशील रहने पर भी इसकी परिणति अन्ततः राजयोग की निगूढ़ साधन क्रियाओं में हो जाती है। 'हठयोग प्रदीपिका' की भंणिताओं में पहले से ही साधनकामी नाथ योगियों को सतर्क कर दिया गया है—'केवलम् राजयोगाम् हठविद्या उपदिस्यते' अर्थात् हठयोग विद्या की शिक्षा उन्हें राजयोग के अनुशीलन के लिए दी जाती है।

नाथसिद्ध गण जीवन-मुक्ति को ही परम काम्य मानते हैं, और इस मुक्ति का वे उपभोग करते हैं, रूपान्तरित एवं अविनश्वर दिव्यदेह से। वह देह 'अशुद्ध-माया' द्वारा मायाविश्रीकृत नहीं है, विशुद्ध कृपा शक्ति से उद्बुद्ध होकर वह देह सूक्ष्मतर स्तरसमूह अतिक्रम करते-करते अन्ततः परामुक्ति में उपनीत होता है। इस अवस्था में सिद्ध-देह योगी, मुक्तिकामी साधक मात्राको अशेष भाव से सहायता करते हैं, तथा गुरु रूप में अध्यात्म-कल्याण वितरित करते हैं।

गोरखनाथ की सिद्ध सिद्धन्त पद्धति तथा गोरख संहिता में हमें नाथयोगियों की पूर्ण परिणति के विशद तथ्यादि मिलते हैं। इस परिणति की प्रधान बात है कि जीव शिव में परिणत होगा, और वह संभव होगा काया-सिद्धि एवं अमरत्व अर्जन के माध्यम से।१.

"सिद्ध देह योगी 'जीवन्मुक्त' है। वे इस जगत में निवास करते हुए भी निर्लिप्त हैं। वे मृत्यु के व्यतीत होते ही 'परामुक्त' हो जाते हैं, अर्थात् अपनी शुद्ध देह लेकर ही वे जगत् से अन्तर्हित हो सकते हैं। यह कायिक मृत्यु नहीं है, यह गुरु के उपदेश से स्थूल देह का परिवर्तन है, एवं उसी देह में ही इस जगत् का त्याग है। जो मृत होता है वह मुक्त नहीं, यही सिद्ध मत है। परामुक्त का 'देहपात नहीं

१ जीव थई शिव हैवा प्राणी—गोरख वाणी : डा० वड़थ्वाल।

होता है, यही वैशिष्ट्य हैं। मृत्युञ्जय कामी योगी गुरु के उपदेश से अशुद्ध माया के शरीर को शुद्ध-माया के शरीर में परिणत करते हैं, जिसके फलस्वरुप जो देह होती है वह 'प्रणवतनु' (ओंकारदेह) है। यह अमृतपात से चिरसंजीवित रहता है। 'प्रणवतनु' धारी योगी ही 'जीवन्मुक्त' हैं। अशुद्ध मायिक जगत में निवास करने पर भी उसका संपर्क शुद्ध स्तर के साथ है।"[1]

इस अवस्था का अपूर्व वर्णन हमें नाथ-योगियों की एक प्रसिद्ध वाणी में मिलता है—

जीविता मरिबा मरि जोयवा
अमी महारस भरि भरि पियत्रा

अपने साधन जीवन में अत्यधिक कृच्छ एवं कठोर तपस्या को अनुष्ठित करने पर भी गोरखनाथ ने अपने भक्तों साधकों के लिए साधना के मध्यम मार्ग की व्यवस्था की है। उनके मतानुसार, मानव-देह मुक्ति में सहायक है, मानव का यह शत्रु नहीं है वरन् परम बन्धु है। इसी कारण, इस शरीर को अत्यधिक सुख अथवा दुःख देने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रसंग में एक वाणी में उन्होंने कहा है—

कन्दर्प रुप काय का मंडण
अविर्था काई उलीचो।
गोरख कहे सुनो रे भोदू
अरन्ड अमी कत सींचो।

—जीव की काया तो स्वभावतः ही कन्दर्प जैसा सुन्दर है, उसका व्यर्थ मंडन करके उलटा करने से क्या लाभ होगा ? गोरख कहते हैं—हे मूर्ख, क्यों अमृत की धार से व्यर्थ ही अरंड के वृक्ष का सिंचन करते हो ?

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित साधना का यह मध्यम मार्ग, साधारण मनुष्य के लिए कल्याणकारी है। उनके लिए अध्यात्म साधना सहज साध्य हो जाती है। मात्र इतना ही नहीं, अपने धर्मान्दोलन में उन्होंने

१. डा० कल्याणी प्रामाणिक: नाथ संप्रदायेर इतिहास-पृ० ३०३।

कभी ब्राह्मण-शूद्र तथा धनी-दरिद्र का विचार नहीं किया। अबाध, उदार कल्याण बोध से उद्दीप्त होकर उनका धार्मिक आदर्श एवं साधन मार्ग समाज के सभी स्तरों में प्रवेश कर गया है। योगीश्वर आदिनाथ को वे शिवरूप में जनजीवन में स्थापित कर गये हैं, जिससे लाखों की संख्या में भक्त तथा साधक उपकृत हुए हैं। समकालीन सामाजिक जीवन की बहुत सी कालिमा उनकी शैव-साधना के प्रभाव से मिट सकी है। १.

योग साधना के गगनचुंबी शिखर पर सिद्धाचार्य गोरखनाथ सर्वदा समासीन हैं। आश्चर्यजनक योगविभूतियाँ संपूर्ण रूप से उनके करतलगत रही हैं। सारे भारत में जगह-जगह वे भक्तों के साथ जहाँ भी परिव्राजन करते, शिवकल्प महायोगी के रूप में पूजित होते—सैकड़ों की संख्या में प्रतिभावान साधक उनके चरणों में अपने को भक्तिपूर्वक समर्पित कर आश्रम लेते।

मत्स्येन्द्रनाथ की इच्छा थी कि नाथ धर्म के श्रेष्ठ संवाहक के रूप में गोरखनाथ विराजमान रहेंगे, तथा ईश्वर निर्दिष्ट जन कल्याण के महान व्रत का उद्यापन करेंगे। गुरु की वह इच्छा गोरखनाथ ने पूर्ण की थी और लाखों की संख्या से नर-नारियों के हृदयों में मुमुक्षा की चेतना जगा गये हैं तथा अजस्त्र साधकों के जीवन में योगसिद्धि की अनिर्वाण शिखा प्रज्वलित कर गये है। अब उनके व्यक्तिगत जीवन में नाथत्व के पूर्णतम विकास का लग्न उपस्थित है। इस विकास को संभावित करने के हेतु, परम शिवत्व में प्रतिष्ठित होने हेतु अब उन्हें अपना सर्वस्व अर्पण करना होगा।

गोरखपुर की एकांत साधन गुफा में बैठ कर वे इसी बात को बार-बार सोच रहे हैं। परन्तु साधना में इस श्रष्ठतम स्तर पर पहुँ-चने के लिए गुरु की उस्थिति तथा गुरु की सहायता के वगैर तो चलने का नहीं। इसीलिए बहुत वर्षों के बाद वे भी गुरु के चरणों के दर्शन हेतु अत्यन्त व्याकुल हो उठे हैं।

---

१. आदिनाथ—हिज एटरनल आईडियल : महन्त दिग्विजयनाथ नॉर्दर्न इन्डिया पत्रिका, ३१ दिसंबर १९६५।

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ गोरखनाथ का अन्तिम साक्षात्कार नेपाल में हुआ था। उसके बाद वे गुरु के निर्देशानुसार दीर्घकाल तक नाना स्थानों का भ्रमण करते रहे हैं और अनेक दिनों से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ है। मत्स्येन्द्र इन दिनों कहाँ और किस स्थिति में है, इसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। सोच-विचार कर अन्ततः गोरखनाथ नेपाल की ओर ही अग्रसर हुए।

पशुपतिनाथ के पास पहुँच कर उन्होंने प्रधान सिद्धाचार्यों से मिल कर गुरु का संधान पा लिया। हिमालय की एक दुर्गम गुफा में बैठ कर वे इतने दिनों तक तपस्या रत थे। सम्भवतः नेपाल के बाहर वे कहीं गुप्त रूप से निवास कर रहे हैं।

व्याकुल हृदय, गोरखनाथ बार-बार सेवकों से प्रश्न कर रहे हैं, "भाई, जल्दी से मुझे बता दो कि गुरुजी कहाँ तथा कौन से एकान्त स्थान में इन दिनों निवास कर रहे हैं। अविलम्ब मुझे उनके साक्षात्कार की आवश्यकता है।"

अनेक सेवक महायोगी गोरखनाथ को पहचान रहे थे, परन्तु उनके प्रश्न का उत्तर कोई भी नहीं दे रहे थे। एक रहस्यमय नीरवता वहाँ छायी हुई थी।

गुरु दर्शन से वंचित गोरखनाथ अब क्रोध से उबल पड़े। रोष-पूर्वक, कठोर स्वर में उन्होंने कहा, "मैं गोरखनाथ तुमसे बार-बार अनुरोध कर रहा हूँ। मुझे गुरु का पता शीघ्र बतला दो। परन्तु तुम्हारा यह कैसा अशिष्ट आचरण है ? मुँह से इतनी सूचना दे देने में भी इतनी कृपणता बरत रहे हो।"

एक पुराने सेवक शिष्य तुरत सामने आये। शांत, दृढ़ स्वर में उन्होंने कहा, "योगिवर, आपका प्रश्न हम लोगों ने अच्छी तरह सुन लिया है। परन्तु इस विषय में कोई सहायता कर पाना हम लोगों के वश में नहीं है। गुरुजी, मत्स्येन्द्रनाथ एक विशेष संकल्प लेकर सुदूर किसी क्षेत्र में एक गिरि-कन्दरा में तपस्या करने गये हैं। उनका पता

बता कर तथा वहाँ भीड़ बढ़ाकर, हम लोग उनके कार्य में विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते।

"पुराने आदमी होकर आप नयों जैसी बात कहते हैं। प्राणप्रिय शिष्य गोरखनाथ से मिलने पर मत्स्येन्द्रनाथ की तपस्या में बाधा पड़ेगी?"– क्रुद्ध स्वर में गोरखनाथ चीख पड़े।

एक नये शिष्य को अब धैर्य जाता रहा। अत्यन्त कठोर भाषा में उसने उत्तर दिया, "गोरखनाथ, सुनिये आप अपने को गुरुजी का कितना भी अन्तरंग क्यों न कहें, आपको उनके तपस्या-स्थल पर नहीं जाने दिया जायगा। एक और बात है। महाकौल मत्स्येन्द्रनाथ नेपाल के श्रेष्ठ सिद्धाचार्य हैं। अवलोकितेश्वर के रूप में, देश में सभी उनकी पूजा तथा श्रद्धा करते हैं। उनका स्थायी साधन-आसन यहीं स्थापित है— और उनकी तपस्या की मंगल-ज्योति सर्वदा इस पवित्र गुफा से विकीर्ण होती रहती है। चिल्ल-पों मचाकर यहाँ की शांति भंग करने की चेष्टा न करें।"

अब महायोगी गोरखनाथ क्रोध से फट पड़े। गरजते हुए उन्होंने कहा, "मूर्ख, तुम नहीं समझ सकते। शिष्य गोरखनाथ जहाँ उपस्थित है वहां मत्स्येन्द्रनाथ का कल्याणमय हस्त खोजने से भी नहीं मिलेगा? मैं आज यहीं खड़ा होकर घोषणा कर रहा हूँ कि गुरु महाराज के यहाँ न उपस्थित होने की अवधि तक नेपाल के आकाश में मेघों की एक क्षीण रेखा भी नहीं दिखलाई पड़ेगी। सारे देश पर अनावृष्टि का अभिशाप पड़ेगा। जलाभाव से घर-घर में हाहाकार मच जायगा।"

रोषपूर्ण नेत्रों से एक बार आकाश की ओर दृष्टिपात करके अपना सिन्दूर चर्चित त्रिशूल गोरखनाथ ने मिट्टी में गाड़ दिया। उसी क्षण सबके सम्मुख एक अलौकिक दृश्य उपस्थित हो गया।

त्रिशूलविद्ध स्थान से एक लपलपाती अग्नि शिखा निकल पड़ी, जो कि तड़ितवेग से ऊर्ध्वाकाश की ओर दौड़ चली। नेपाल के पहाड़ तथा उपत्यकाओं के ऊपर चक्राकार घूमते हुए वह दूर दिगन्त में बिलीन हो गयी।

उस समय घोर वर्षाकाल था, तथा आषाढ़ के जलपूर्ण मेघ सारे आकाश में छाये हुए थे। गोरखनाथ के त्रिशूल से उद्भूत इस अग्निशिखा के ऐन्द्रजालिक स्पर्श से वे मेघपुंज न जाने कहाँ अदृश्य हो गये। उपस्थित साधक दल विस्मित तथा विस्फारित नेत्रों से इस अद्भुत दृश्य को देखता ही रह गया।

अब गोरखनाथ ने निकट की ही एक गुप्ता में प्रवेश किया। नये सिरे से उन्होंने अत्यन्त कठोर पंचतपा अनुष्ठान का संकल्प लिया तथा होमानल प्रज्वलित कर महायोगी गम्भीर तपस्या में निमग्न हो गये।

दीर्घ बारह वर्षों की अवधि तक गोरखनाथ ने इस गुहा के अभ्यन्तर में निवास किया और ये बारह वर्ष जन-जीवन के लिए एक विराट् अभिशाप के रूप में थे। भोगमती की चंचल जलधारा क्रमशः एक क्षीण जल रेखा में परिणत हो गयी। पार्वत्य झरने बिलकुल शुष्क हो गये। कूपों और सरोवरों में एक बूंद जल का भी नाम नहीं था। खेतों की सारी फसल अकाल में ही झर पड़ी। बोआई न करने के कारण किसानों के समक्ष अन्धकार ही अन्धकार दिखायी पड़ने लगा।

योगिवर की क्रोधवह्नि के फलस्वरूप ही यह दुर्दैव घटित हुआ है, यह बात देश के सारे क्षेत्रों में दावानल की तरह फैल गयी। एक-दूसरे के माध्यम से यह बात फैलने लगी। अनेक भयभीत लोग यह बात कहते देखे जाते, क्रुद्ध गोरखनाथ बारह वर्षों के लिए ध्यान गुफा में उपविष्ट हो गये हैं। उन्होंने मेघलोक की सप्तनागिनियों को अपने वश में कर लिया है और इन्हीं नागिनियों की कुंडली के ऊपर महा-साधक ने अपना ध्यान स्थापित कर लिया है। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के नेपाल वापस आकर इन नागिनियों को मुक्त न करने की अवधि तक अनावृष्टि का अभिशाप दूर नहीं होगा।[1] सारा नेपाल जलकर राख हो जायगा।

---

१. राइट : हिस्ट्री आफ् नेपाल, पृ० १४०-४४।

अन्य कोई उपाय न रहने पर प्रजागण दल-के-दल नेपाल-राज बड़देव के पास जाकर उपस्थित हुए। आर्त कण्ठ से उन लोगों ने निवेदन किया, "महाराज, आप किसी उपाय से गोरखनाथ जी के गुरू मत्स्येन्द्रनाथ प्रभु को उनके एकान्त वास से वापस लावें और इस तरह गोरखनाथ जी को शांत करें। ऐसा न होने पर उनके रोष तथा अभिशाप से सारे राज्य में किसी का निस्तार नहीं है।"

राजा के वृद्ध पिता मत्स्येन्द्रनाथ के विशिष्ट शिष्यों में से थे। इस संकट काल में उनका भी स्मरण किया गया। परामर्श के लिए राज्य के प्रधान आचार्य को भी बुलाया गया। सोच-विचार कर उन्होंने कहा, 'महाराज, मत्स्येन्द्र प्रभु ने एकान्तवास का संकल्प लिया है। इस समय हम लोगों का सीधा उनके पास चले जाना विपद्जनक है। इसके अलावा, अपने तपस्या-स्थान कपोतल पर्वत के चारों ओर उन्होंने एक 'बंध' स्थापित कर रखा है। उस वेष्ठनी को लांघ कर जाने की किसी की क्षमता नहीं है। मेरा विचार है कि आप लोग सब पहले वाघम्बर ज्ञान डाकिनी की पूजा करके उसे प्रसन्न करें जिससे वहाँ जाने में कोई भय न रहे।"

आचार्य के निर्देशानुसार ही कार्य हुआ एवं पूजा तथा होम के समापन के उपरान्त उन्हें साथ लेकर राजा बड़देव के पिता कपोतल में उपस्थित हुए। गोरखनाथ के रोष की बात तथा बारह वर्षों के नेपाल वासियों के अवर्णनीय दुःख तथा कष्ट की सारी बातें उन्हें विस्तारपूर्वक बतायी गयीं। मत्स्येन्द्रनाथ करुणार्द्र होकर अविलम्ब भक्तगण सहित नेपाल वापस लौट आये।

नेपाल की धरती पर उनके पदार्पण करने के साथ-साथ, एक विस्मयकर नैसर्गिक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। ग्रीष्म की प्रचण्ड दहन ज्वाला से सारा देश त्राहि-त्राहि कर रहा था, परन्तु इस समय सारे आकाश में धीरे-धीरे कृष्ण वर्ण के दल-के-दल मेघ एकत्रित होने लगे। अल्प काल में ही प्रबल वर्षण आरम्भ हो गया। शीर्णकाया भोगमती में फिर दुर्वार जलस्रोत प्रवाहित होने लगा। पहाड़ी झरनों

में फिर चंचलता का श्रीगणश हो गया तथा ऊसर खत मानो स्वर्ग लोक के किसी अलौकिक जादूगर के स्पर्श से सरस हो उठे। सारा देश शांति तथा स्निग्धता के रस से अभिसिंचित हो उठा।

वर्षास्नात पहाड़ पर जल-धारा बहती चली आ रही है जिसके कारण गोरखनाथ की ध्यानगुफा जलमय हो उठी। वाह्य ज्ञान लाभ करके योगिवर ने सहसा अपने नेत्र उन्मीलित किए। उनके अन्तर में अपार विस्मय हुआ। यह कैसा आश्चर्य ! ऐसी बात तो होनी नहीं चाहिए। उन्होंने क्रोधपूर्वक अपनी संकल्पवाणी उच्चारित की थी - अनावृष्टि का अभिशाप नेपाल के मस्तक पर वारह वर्षों तक विद्यमान रहेगा। इसे किसी तरह भी अन्यथा तो नहीं होना चाहिए। प्रकृति तो उनकी किंकरी के सदृश है। जो आदेश वे एक बार दे चुके हैं, उसे अमान्य करने का यह साहस कैसा ?

सोचते-सोचते अकस्मात् गोरखनाथ चौंक पड़े। यह क्या ? क्या किसी महायोगी का यहाँ आगमन हुआ है जो प्रकृतिवशीत्व में उनकी अपेक्षा अधिक शक्तिवान हैं ?

वास्तविक स्थिति क्या है, इसे जानने के लिए वे ध्यानस्थ हुए। मानस चक्षुओं के सम्मुख गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की दयामय मूर्ति उद्भासित हो उटी। उसी क्षण उन्हें ज्ञान हो गया कि कृपा करके गुरु महाराज का आज नेपाल में आविर्भाव हुआ है। सारे देश की रक्षा करने के लिए वे कपोतल पहाड़ के एकान्त का त्याग कर वापस आये हैं। महा-शक्तिधर गुरु ने ही गोरखनाथ के अनावृष्टि के शाप से त्राण दिलाया है तथा मेघ लोक की स्निग्ध जलधारा को मुक्त किया है।[1]

---

१ योगबल से अनावृष्टि का निवारण करके महाकौल मत्स्येन्द्रनाथ ने नेपालवासियों का हृदय जीत लिया। नेपाल के बौद्धमतावलम्बियों के मत से वे प्रभु अवलोकितेश्वर हैं, तथा वहाँ हिन्दू लोग उन्हें नेपाल का रक्षक देवता मानकर पूजा करते हैं। आज तक नेपाली लोग अपनी उद्धार-लीला की स्मृति की श्रद्धापूर्वक रक्षा करते चले आ रहे हैं। प्रतिवर्ष, राजधानी काठमांडू में एक जनप्रिय शोभायात्रा अनुष्ठित

गुरु आकर सामने खड़े हो गये तथा स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "वत्स, तुम्हारी व्याकुलता के कारण ही मुझे इस तरह अकस्मात आना पड़ा। तुम्हारी आन्तरिक प्रार्थना का मुझे ज्ञान है। आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारे सर्वाभीष्ट इस बार पूर्ण हों।"

"प्रभु, आपके दर्शन के लिए व्याकुल होकर, इस राज्य के निवासियों को मैंने कितना कष्ट दिया है। कृपा करके मुझे क्षमा करें।' गोरखनाथ ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया।

"वत्स, मैं तो जानता हूँ कि इतना कुछ परमशिव की इच्छा से ही हुआ है। तुम्हारी नूतन पंचतप साधना के माध्यम से मेरे आश्रित देश, नेपाल, के भाग्यमें भी दीर्घदिन व्यापी एक शोधन क्रिया हो गयी है। जो ग्लानि तथा ताप इस राज्य में एकत्रित थी, वह तुम्हारे जैसे रुद्रप्रतिम साधक के रोष से विनष्ट हो गयी। अब इस क्षेत्र में दुःख तथा दहन के माध्यम से परम कल्याण उपस्थित हुआ है। अब से यह पार्वत्य राज शुभंकर देवशक्ति द्वारा संरक्षित होगा।"

"यह आपकी अशेष कृपा है, प्रभु।"

"तुम मेरी खोज में यहाँ आओगे, यह मुझे ज्ञात था, वत्स। कपोतल पर्वत के एकान्त में बैठकर जिस परमवस्तु की तुम्हारे लिए रक्षा करता रहा हूँ, आज उसे अन्ततः तुम्हें दे देने का समय हो गया है। फिर भी. उससे पहले तुम्हें भी कुछ करना शेष है।

"आज्ञा करें, प्रभु।"

होती है जिसमें शैव सन्यासीगण मत्स्येन्द्रनाथ की एक तीन फुट ऊँची रक्तवर्ण प्रतिमा समारोह के साथ वहन करते हैं जिसका राजा तथा उनके सरदार लोग अनुगमन करते हैं और राज्य की तलवार को विग्रह के चरणों में निवेदित किया जाता है। यह शोभायात्रा नेपाल की वर्षा ऋतु तथा सुख एवं समृद्धि का द्योतक है तथा राज्य के धर्मवत्सर की सूचना भी इसी दिन से होती है।

द लिडन : नेपाल - भोल्यू १, पृ० २१०-११।

"अबकी बार कौल साधना की महासिद्धि के शिखर पर तुम पहुँच जाओगे। शिवतनु लाभ करके पूर्णप्रज्ञा एवं नाथत्व में तुम्हारी पूर्ण प्रतिष्ठा होगी। परन्तु उससे पहले मेरे द्वारा प्रदत्व कई निगूढ़ साधन क्रिपाएँ तुम्हें सफल कर लेनी होगी, वत्स।"

गोरखनाथ ने फिर अपनी ध्यान-गुहा में प्रवेश किया, तथा गुरु द्वारा निर्देशित क्रियायें करके ही वे समाधिस्थ हुए।

दूसरे दिन समाधि भंग होने पर महायोगी ने देखा कि अंतरंग पार्षदों के साथ गुरु महाराज उनकी साधनगुहा के सम्मुख प्रसन्न मुद्रा में खड़े हैं।

उनका प्रियतम शिष्य आज पूर्ण मनष्काम है। हृदय से आशी-, र्वाद देने के पश्चात् सभी को संबोधित करते हुए मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा "आज हमलोगों के लिए अत्यन्त शुभ दिन है। नाथ-योग-सिद्धि की जो श्रेष्ठ संपदा परंपरा रूप से मेरे पास सुरक्षित थी, उसे मैंने गोरख-नाथ को दान कर दिया है। पूर्ण सामरस्य, पूर्ण प्रज्ञा एवं पूर्ण अद्वैत-बोध से वह प्रतिष्ठित हो चुका है और नाथ-योगियों की चिर कांक्षित सहज समाधि का लाभ कर चुका है। विश्व सृष्टि के सारे तत्वों के साथ वह पूर्ण रूप से एकाकार हो चुका है। इस सहज समाधि का थोड़ा आभास तुम लोगों ने मेरे 'अकुलवीर तंत्र' में पाया होगा। इस परम अवस्था का लाभ आज गोरखनाथ को हो चुका है :—

स्वयं देवी, स्वयं देवः स्वयं शिष्यः स्वयं गुरुः।
स्वय ध्यानम् स्वयं ध्याता स्वयं सर्वत्र देवता॥[1]

चरणों में प्रणत गोरखानाथ को गुरु ने हृदय से लगा लिया और मधुर स्वर में कहा, "वत्स, इस चरम उपलब्धिके पश्चात् तो इस नश्वर शरीर में अधिक दिनों तक रहना सम्भव नहीं है। अब से तुम्हारा सारा अस्तित्व शिव सत्ता में विधृत रहेगा। अल्पकाल के अन्दर ही तुम्हारा तनु शिवसत्ता में रूपायित हो जायगा। मात्र मुमुक्षु, एवं

१ कौलज्ञान निर्णय : मत्स्येन्द्रनाथ —संपादना : डा० प्रबोध बागची, कालिकाता संस्कृत सीरिज नं० अकूल, म. पृ० : २६।

भक्त साधकों पर कृपा वितरण करने के अलावा सिद्ध-देह नाथयोगी का कोई कर्म नहीं रह जाता, वत्स।"

"परन्तु प्रभु, आप अब कहाँ निवास करेंगे ?"

"वत्स, नाथत्व की परंपरा की रक्षा करने का एक गुरु दायित्व मेरे ऊपर था। आज वह दायित्व मैंने तुम्हारे कंधों पर डाल दिया और मेरी छुट्टी हो गयी। अब मुझे अन्तर्ध्यान होना पड़ेगा। तुम्हारे लिए यही निर्देश है कि यहाँ से तुम शीघ्रातिशीघ्र अपने प्रथम सिद्ध-स्थान गोरखपुर लौट जाओ। उसी पुण्य स्थान को केन्द्र करके सिद्ध देह से विश्व के सारे स्थानों में स्वेच्छापूर्वक विचरण करो, तथा सिद्धि कामी योगी साधकों को सहायता प्रदान करो। इस दैवी कार्य का उद्यापन तुम्हें बारह वर्षों तक करना होगा, उसके बाद अपनी इच्छानुसार तुम अपने सिद्धाचार्य जीवन से संबन्ध विच्छेद कर सकते हो।"

उपस्थित भक्त साधक गण विस्मय से अवाक् दोनों महायोगियों की ओर देख रहे हैं और उनके अमृतमय कथोपकथन का श्रवण कर रहे हैं। उनकी ओर घूमकर मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा, "गोरखनाथ की यह सिद्ध गुहा[१] मात्र नेपालवासियों के लिए ही पवित्र स्थान नहीं रहेगा वरन् सारे भारत के मुक्तिकामी नर-नारियों के लिए यह एक मुक्तिप्रद महाजाग्रत तीर्थ होगा।[२] केवल इतना ही नहीं, उत्तरकाल में मेरे प्रियतम शिष्य, गोरखनाथ के नाम पर ही नेपाल राज्य के अधिवासीगण अपना परिचय गोर्खा जाति कह कर ही देंगे।[२]

---

१ पश्चिम नेपाल में गोरखनाथ के सिद्धस्थान इस गुफा के भीतर आज भी सुरक्षित है गोरखनाथ का त्रिशूल, जीर्ण आसन, शंख तथा पीतल का दीपाधार। गुहा के पास ही प्रतिष्ठित है एक मनोरम छोटा मंदिर जो कि शैव योगियों के लिए अवश्य दर्शनीय है। गुर्खा जाति के लिए यह मंदिर एक अक्षय संपदा है। वरेण्य महायोगी के इस एकांत तपस्यास्थल के ऊपर से कल-कल ध्वनि करती हुई एक छोटी पार्वत्य नदी बहती है।

२. लिडन : नेपाल- भोल्यू १, पृ : ६६।

बातें समाप्त होते-होते महाकौल मत्स्येंन्द्रनाथ का शरीर एक ज्योतिर्मय पिण्ड में परिणत होकर उर्ध्वाकाश में उठकर क्षण भर में ही जाने कहाँ अदृश्य हो गया।

मत्स्येन्द्रनाथ के आदेशानुसार गोरखनाथ गोरखपुर वापस लौट आये हैं। गुरुकृपा के फलस्वरूप, महासाधक अब आप्तकाम तथा नाथत्व में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुके हैं। अध्यात्म जीवन में प्राप्ति की सारी आकांक्षाएँ सर्वथा निःशेष हो चुकी हैं— अब उन्हें केवल दान करने की बारी है। उनकी कृपाधन महिमामय मूत्ति सर्वदा साधन मंदिर में समासीन रहती है जहाँ प्रतिदिन नाथ योगी एवं सिद्धिलाभेच्छु साधकगण की भीड़ लगी रहती है। कभी गोरखनाथ के मात्र सामान्य दर्शन अथवा स्पर्श पा कर तो, कभी निगूढ़ साधन-निर्देश के फलस्वरूप इन मुमुक्षु दर्शनार्थियों में रूपान्तरण घटित हो जाता है। मात्र गोरखपुर में समागत साधकों के मध्य ही नहीं, भारत के प्रत्येक क्षेत्र में, कभी सुदूर उत्तर और मध्यप्रदेश में तो कभी पंजाब व राजपूताना अथवा दाक्षिणात्य प्रदेश में महायोगी के कल्याणमय हस्त प्रसारित हो उठते हैं। सिद्धि के तोरण द्वार पर खड़े कितने ही साधक गोरख प्रभु के अलौकिक आविर्भाव से रूपान्तरित एवं धन्य होते हैं तथा उनके ज्योतिर्मय सिद्ध देह का दर्शन लाभ करते हैं।

यह अपूर्व कृपालीला अनवरत बारह वर्षों तक अनुष्ठित होती रही। उनके बाद नश्वर शरीर को त्यागने का निश्चित दिन एवं लग्न आकर उपस्थित हुआ।

आदेशानुसार पहले से ही गोरखपुर के आश्रम में महायोगी के प्रधान शिष्य एवं पार्षद आकर उपस्थित हो चुके हैं। इनके मध्य हैं, कच्छ धिनोधर के धरमनाथ; पंजाब टाला मठ के लक्षण नाथ। जरूरी आह्वान पाकर व्याकुल हृदय से सिद्धाचार्य दयानाथ और गोपीचन्द्र भी दौड़ते हुए आ गये हैं। महाराष्ट्र के गहिनीनाथ एवं बम्बई की विशिष्ट साधिका देवी विमलांगनाथ भी इनके मध्य हैं।

अन्तरंग शिष्यों को स्नेहपूर्वक निकट बुलाकर, योगिवर गोरखनाथ ने कहा, "एक विशेष प्रयोजन से मैंने तुम सभी को यहाँ आह्वान करके बुलाया है। गुरु कृपा से श्रेष्ठ सम्पदा पाने के बाद भी, उनके निर्देशानुसार, मैंने पिछले बारह वर्ष जीव देहमें ही व्यतीत किए हैं। अब नश्वर शरीर का त्याग करने का समय आ गया है। आज ही मध्य रात्रि में इसी मन्दिर में मैं अन्तर्हित हूँगा—अब इस स्थूल शरीर का सान्निध्य तुम्हें कभी नहीं मिल सकेगा।"

शिष्यों के लिए यह संवाद तो हृदयविदारक था। भरे हुए गले से उन्होंने गोरखनाथ से इस संकल्प का त्याग करने के लिए विनती की। परन्तु महयोगो ने क्या उसे सुना भी ?

स्नेहसिक्त स्वर में वे कहने लगे, तुम्हें कोई भय नहीं है। सिद्ध देह में मैं अवश्य ही विराजमान रहूँगा एवं साधन जीवन के प्रयोजन के अनुसार तुम लोग मेरा दर्शन तथा सहायता पाते रहोगे। और तुम सभी से मेरा अन्तिम अनुरोध है—नाथ धर्म के आदर्श एवं शैव योगसाधना की निगूढ़ पद्धति की तुम लोग सर्वदा रक्षा करो। इस देश का धर्म जीवन आज क्षय ग्रस्त हो चुका है। देवाधिदेव शिव की उपासना का प्रचार करके उसे पुनरूज्जीवित करके खड़ा करो। सारे भारतवर्ष में सर्वत्र मेरे अनुगामी नाथ योगियों के दल का विस्तार हो चुका है, तथा असंख्य मठ-मन्दिर तैयार हो चुके हैं। इनकी सहायता लेकर नाथ-योग-साधना को सबके कल्याण के लिऐ सर्वत्र प्रसारित कर डालो। तुम सभी के लिए मेरे हृदय की शुभकामनां तथा आशीर्वाद है।"

बातें समाप्त होते-होते मन्दिर का कक्ष एक स्वर्गीथ सुगन्ध तथा स्निग्धता से भर उठा। साथ ही दिखलाई पड़ा—योगिवर गोरखनाथ का स्थूल शरीर एक शुभ्र ज्योतिर्भण्डल में परिणत हो गया है और उसके माध्यम से उनका लोकोत्तर सिद्ध देह अथवा शिवतनु आकारित होकर निकल रहा है। क्षण भर में सभी की आँखों के सामने, वातायन के मार्ग से यह सिद्ध देह उध्र्वाकाश में पता नहीं कहाँ बिलीन हो गयी।

भक्त शिष्योंका दल अबतक विस्मयसे हत्‌वाक् होकर उस दृश्यकी ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहा था। अब उन्हें गुरु से विच्छेद के वास्तविक रहस्य का ज्ञान हुआ। सभी आर्त्तस्वर में रोने लगे।

असंख्य नाथपन्थी योगी तथा शैव साधक अपने हृदय से विश्वास करते हैं कि स्थूल शरीर की लीला शेष हो जाने पर भी योगी गोरखनाथ आज भी अपनी कृपाघन दिव्य सत्ता लेकर उनके मध्य विराजित हैं। इस विश्व चराचरमें सर्वत्र वे अबाध गतिसे विचरण करते हैं तथा सारे जीवों के उद्धार के लिए उनके कल्याणमय हस्त सर्वदा प्रसारित रहते हैं। विशेष रूपसे नाथ योगी शैव एवं साधकों के मत से महायोगी गोरखप्रभु हैं—

स्वेच्छाचारी स्वयं कर्ता लीलया च जरामरः।
अवध्यो देवदैत्यानां क्रीड़ति भैरवो यथा।[1]

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति : गोरखनाथ

●●

मुद्रक :— चन्द्रोदय प्रेस, सैदपुर-पटना ८०००४।